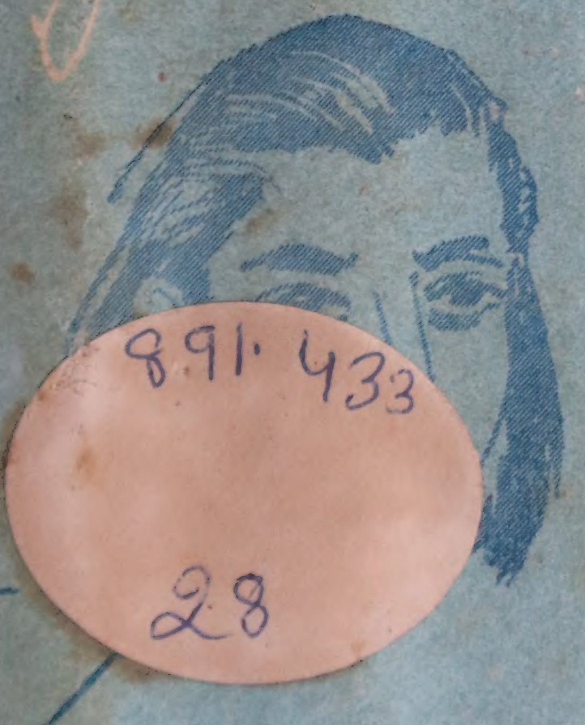




दिगम्बर

दिगम्बर

[औपन्यासिक रेखांकन]

शान्तिप्रिय द्विवेदी

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
वाराणसी–१

प्रथम संस्करण : नवम्बर, १६५४
द्वितीय संस्करण : मार्च, १६५६
तृतीय संस्करण : दिसम्बर, १६५८

मूल्य : २ रुपये

प्रकाशक : हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
पो० बॉ० नं० ७०, ज्ञानवापी, वाराणसी–१
मुद्रक : भारत भूषण प्रेस
छोटी पियरी, वाराणसी–१

प्राक्कथन

शिल्प की दृष्टि से आप इस पुस्तक को क्या कहेंगे—उपन्यास, कहानी, शब्दचित्र, पर्सनल एसे, सामाजिक आख्यान या केवल कथानक? फूल में पंखुड़ियों की तरह यह इन सबकी समष्टि है। 'पथचिह्न' और 'परिव्राजक की प्रजा' के बाद कथासाहित्य में मैंने यह नवीन प्रयोग किया है। आधुनिक उपन्यास-कला और पुरानी उपन्यास-कला का इसमें यत्किञ्चित सम्मिश्रण है।

कथानक में वास्तविकता है, किन्तु घटनाओं में कल्पना का पुट भी है; अतएव, संस्मरण की शैली में लिखी जाने पर भी यह आत्मकथा नहीं, औपन्यासिक रचना है। सीधे उपन्यास नहीं, 'रेखांकन' है। अब तक उपन्यास कहानियों के रूप में लिखे गये हैं, इसमें प्रायः रेखाचित्रों के रूप में ही एक क्रमबद्ध कथानक का औपन्यासिक विन्यास है। इसकी लिखावट या बुनावट में मिल के वस्त्रों-जैसी एकरूपता और समरसता नहीं, खद्दर-जैसा खुरदुरापन है, जिसका अपना एक स्वतंत्र शिल्प है और भविष्य में अपने ढंग से ही इसका भी विकास होगा।

पुस्तक के नाम ('दिगम्बर') में एक सांकेतिक व्यञ्जना है। पहिले मैं इसे यथार्थवादी दृष्टि से लिखना चाहता था। यथार्थ तो इसमें अब भी है किन्तु वह मशीनी नहीं, मानुषिक है। मनुष्य देह से प्राकृत पशु और चेतना से सुसंस्कृत प्राणी है। अपनी दैहिक प्रवृत्तियों में नग्न पशु ही चेतना से ज्योतिर्मण्डित होकर शिवरूप दिगम्बर हो जाता है, 'पशुपतनाथ' हो जाता है। पशु होना बुरा नहीं, किन्तु चेतना से पशुत्व का परिष्कृत न होना आत्मविडम्बना है। जहाँ चेतना जाग्रत है वहाँ पशु भी पूज्य (गौ) और मानस के देवभाव का वाहन (नन्दी) हो जाता है। यही नहीं, मानवेतर अन्य देहधारी

भी दैवी ज्योति के प्रतिरूप हो जाते हैं (जैसे मत्स्य, कच्छप, वाराह, इत्यादि)।

देह है यथार्थ, चेतना है आदर्श। साहित्य में यथार्थ और आदर्श का दृष्टिकोण अब बहुत रूढ़ हो गया है। निष्प्राण शरीर की तरह अशिव यथार्थ ही प्रधान होता जा रहा है। आदर्श को युगातीत और यथार्थ को युगधर्म्म कहा जाता है। लेकिन आदर्श के साथ साथ यह युगधर्म्म भी अतीत होने जा रहा है। अणुबम के विस्फोटों से न केवल आदर्श और यथार्थ ही भस्मसात होने जा रहा है, बल्कि अब तक की अच्छी-बुरी समस्त सृष्टि ही समाप्त होने जा रही है। प्रकृति और संस्कृति के सन्मुख फिर प्रलय-काल आ उपस्थित हुआ है।

चाहे महाक्रान्ति हो, चाहे प्रलय हो, सृष्टि फिर सृजन-सिञ्चन-संहार का शाश्वत क्रम ले कर पुनर्जीवित हो उठेगी, क्योंकि मर्त्यलोक की क्षणभंगुर शक्तियाँ सीमित हैं, अमृतलोक की उर्व्वर शक्तियाँ असीम हैं।

युगान्त के बाद जीव कभी फिर देहधारी होगा, तब उसमें भी देह की यथार्थता और चेतना की दिव्यता अभिव्यक्त होगी। उस युगान्तर की अपनी कहानी, अपनी दुनिया होगी। उसके पहिले अभी जो युग चल रहा है, उसी में से मैंने ये कुछ रेखाचित्र युगचिह्न के रूप में खींच लिये हैं।

जीवन-पथ पर चलते-चलते अब तक के अनुभवों ने मुझे स्तब्ध और स्तम्भित कर दिया है, जैसे नेपथ्य में प्रच्छन्न कोई प्रश्नचिह्न गत्यवरोध बन गया है। फिर भी अभी तक मैं सांस्कृतिक श्रद्धालु हूँ; इसीलिए 'दिगम्बर' शिवत्त्व की ओर है, उसकी अनावृत्त आत्मा पर सभ्यता का कोई आडम्बर नहीं है।

मेरे सामने यह प्रश्न था कि महाक्रान्ति की ओर उन्मुख आज के इस असामाजिक (आर्थिक, राजनीतिक, यान्त्रिक) युग में रवीन्द्र और शरद् की सात्त्विक पात्र-पात्रियों का भविष्य क्या है, वे कैसे

और कब तक चल सकेगी ? इसी का उत्तर देने के लिए शरद ने 'शेष प्रश्न' लिखा। किन्तु उससे मेरा समाधान नहीं हुआ। 'शेष-प्रश्न' की कमल 'चरित्रहीन' की सुरबाला, 'देवदास' की पार्वती और 'श्रीकान्त' की अन्नदा जीजी नहीं है। 'मँझली दीदी' और 'बड़ी दीदी' नहीं है। मेरे सामने इसी आर्ष आत्माओं के भविष्य की चिन्ता है। 'दिगम्बर' में वैष्णवी भी इसी परम्परा में है। शरद ने 'शेष-प्रश्न' में कमल को शिवानी की संज्ञा दी है, किन्तु यह नाम केवल दाम्पत्यिक है। वैष्णवी अपने अस्तित्व से भी शिवानी है, मानो शरद की पिछली गृहदेवियों ने ही उसमें एक शक्ति प्राप्त कर ली है ? किन्तु वह भी अब कहाँ है ?

प्रश्न व्यक्ति के रहने-न-रहने का नहीं, उस व्यक्तित्त्व का है जिसका प्रतिनिधित्त्व व्यक्ति करता आया है।

बंगाल के वर्त्तमान लोकप्रिय उपन्यासकार श्री ताराशंकर वन्द्योपाध्याय से मैंने पूछा था—"शरद के उपन्यासों का भविष्य क्या है ? उनका युग कब तक चलेगा ?" उन्होंने कहा—"अभी सौ वर्ष तक तो चलेगा ही।

क्या सचमुच शरद का युग इतने वर्षों तक चल सकेगा ? उस दिन सिनेमा के पर्दे पर 'विराज बहू' को देखा था। अभी कल की ही तो वह कथा है, किन्तु आज के वातावरण में कितनी पुरानी हो गयी है। समय कितना जल्दी-जल्दी क्लासिक होता जा रहा है !

शरद के ही नहीं, रवीन्द्रनाथ के भी भविष्य के लिए प्रश्नचिह्न लग गया है। मार्क्सवादी दृष्टि से कहा जाता है—"उससे परिपूर्ण, कलात्मक सङ्गीतमय, भावप्रवण और दार्शनिक कवि एवं साहित्यस्रष्टा शताब्दियों तक दूसरा कोई नहीं हो सकता है, इसके लिए कोई ऐतिहासिक कारण भी नहीं है।"

ऐतिहासिक कारण का सम्बन्ध आर्थिक आधार से है। इस युग का इतिहास पुराने आर्थिक आधार के साथ-साथ उस पर

अवलम्बित साहित्य, समाज और आचार-विचार को भी समाप्त करता जा रहा है। आदर्शवादियों का कहना है कि जीवन के जो शाश्वत अथवा स्थायी तत्त्व हैं, वे कभी समाप्त नहीं होंगे, सदैव बने रहेंगे। किन्तु स्थायित्व के लिए भी तदनुकूल आधार चाहिए जैसे आत्मा के लिए शरीर। इसी दृष्टि से 'दिगम्बर' में एक रचनात्मक उद्बोधन है।

लोलार्क कुण्ड,
काशी।
२ नवम्बर, सन् १९५४

साभिवादन
शान्तिप्रिय द्विवेदी

दिगम्बर

: १ :

मालती का जब विवाह हुआ था तब वह ठीक से किशोरी भी नहीं हो सकी थी। अभी कल की तो बात है, छोटी-सी मालती बेखटके राह-बाट में आती-जाती थी, घर की छोटी मोटी जरूरत की चीजें बाजार से खरीद ले जाती थी, पृथ्वी की कन्या की तरह ही पृथ्वी पर चलती-फिरती थी। उसी जैसी न जाने कितनी ही कन्याएँ तो पथ पर आती-जाती रहती हैं, किन्तु रोज-रोज की पहिचानी पृथ्वी की तरह ही कौन उनकी ओर ध्यान देता है।

कवि विमल उसका पड़ोसी था, कहीं दूर का रिश्तेदार भी हो सकता था। वह अपने एक अन्य रिश्तेदार के यहाँ ही रहता था, किन्तु कितना अकेला और अनाथ था! क्या सदा से ही वह ऐसा था? नहीं। पुरानी बातों को जाने दीजिये। आज वह जैसा भी है, उसे छूने-जगाने से उसके भीतर से आँसू निकल आयेंगे, आँखें, भींग जायँगी, किसी से प्यार तो मिल नहीं सकता, फिर उसे हिलाने-डुलाने से क्या फायदा! आँसू के बूँद चाहे स्वयं ही ढुलक जायँ, जीवन की स्वाभाविक गति-यति के साथ हम क्यों खिलवाड़ करें!..........

मालती का अपना घर था। माता-पिता, भाई-बहिन, सभी तो थे। विमल की तरह वह निर्जन नहीं थी।

कवि का अपना कोई घर नहीं था। उसके खाने-पीने का भी कोई ख्याल करनेवाला नहीं था। मालती की माँ कभी-कभी उसके पास जलपान भेज देती थी। छोटी-सी मालती डिब्बे में जलपान लेकर आती तो विमल को इसी तरह दे जाती जैसे कोई अछूत को अपनी कृपा देता है। विमल चाहता कि वह उससे कुछ बात करे, उसके बचपन से हृदय को कुछ विश्राम दे, किन्तु वह क्या सरला थी! विमल जब अपनेपन से बात करना चाहता तब वह हाथ से इस तरह बरज देती जैसे संसार के लिए उसके मन में अवज्ञा ही अवज्ञा हो। उसके व्यवहार में अपने सिवा सारी सृष्टि के लिए क्या निषेध-ही-निषेध था! कैसी अभिमानिनी थी वह!

विमल सोचता, क्या यह भी कभी सयानी होगी, इसकी भी शादी होगी, कैसे इसकी पटेगी, क्या यौवन के प्रति भी निष्ठुर हो जायगी!...

समय आया, मालती का विवाह हो गया। रिश्ते की पुरखिन ने कहा—'लड़का अच्छा मिला है। सुन्दर है, सुशील है।' विमल ने भी विवाह के दिन दूल्हे को देखा था। मँझोले कद का भरा-पूरा शरीर, चेहरे पर कोई खास सौदर्य न होते हुए भी विवाह के योग्य कुँआरे लड़कों-सा स्वस्थ और सुडौल था। मालती की अपेक्षा श्रीमन्त जान पड़ता था। मालती तो उसके सामने रुग्णा जान पड़ती थी। अनाथ न होते हुए भी वह गरीब घर की कृशकन्या थी। न उसका बचपन ही खिल सका था, न कैशोर्य ही प्रस्फुटित हो सका था। ऐसी मालती को ऐसा वर एक वरदान ही मिला था।

मालती भी तो उसे संयोग से ही मिली थी। उच्चकुल में उत्पन्न होकर भी वर के लिए बिरादरी में कन्याएँ दुर्लभ थीं। गरीब बाप ने धन के लोभ में मालती का विवाह उसके साथ कर दिया। कौन घाटे में और कौन फायदे में रहा, इसका लेखाजोखा लगाने के लिए अभी समय नहीं आया।————

मालती ससुराल चली गयी। किन्तु उसके चले जाने से माँ-बाप का भार हलका नहीं हुआ। खानेवाले बहुत, कमानेवाला कोई नहीं।

नीचे के कमरे में कल-पुर्जों को मरम्मत करने के लिए जो दूकान खुली थी, वह अब चलती ही नहीं। आस-पास और भी दूकानें खुल गयी थीं। मालती की माँ ने सोचा—विमल यदि उनके यहाँ खा लिया करे तो कुछ सहारा हो जाय।

विमल वहाँ आने-जाने लगा। कभी-कभी मालती जब ससुराल से आती तब उसकी ओर ध्यान से देखता। उसके शरीर में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। शरीर तो पनप नहीं सका, बचपन का मुकुलित मन भी मुरझाया ही रहता। अब वह न तो कन्या ही थी, न परिणीता वधू ही थी। उसकी दुबली-पतली श्रीहीन काया नियति की एक पैरोडी मात्र थी। उसके सीमन्त में सुहाग का सिन्दूर किसी कच्ची सड़क पर सुर्खी की निशानी की तरह थी। महाकाल ने मानों अब उसके जीवन को भी अपने लाल फीते से नापना शुरू कर दिया था।

एक दिन वह ऊपर छत पर जाड़े की धूप में सोई हुई थी। विमल उसे मूँगफली देने के लिए वहाँ चला गया। एकान्त पाकर उसे कुतूहल हुआ—क्या प्रकृति ने इस रूखी सूखी लता में यौवन के फूल अभी नहीं उगाये! कैसे होंगे इसके फूल!!

उसने सहमते सकुचाते हुए उसके तारुण्य का स्पर्श कर लिया।

नवोढ़ा मालती यह निश्चय नहीं कर सकी कि यह स्पर्श उचित है या अनुचित। फिर भी उसे वक्ष पर किसी अतिरिक्त भार का अनुभव हुआ। वह विचलित हो गयी। अपनी दुर्बल बाँहों से प्रतिरोध करने लगी।.........

—०—

: २ :

गाँव की अमराइयों में एक बालक घूमता रहता था। आमों की रखवाली करता था। खेती नाम मात्र की थी। बगीचे में जैसे अनेक पेड़ वैसे ही घर में अनेक प्राणी। यहाँ तक कि पुरानी पीढ़ी की निशानी वृद्धा दादी भी अभी तक जीवित थी। किन्तु इतने बड़े परिवार में उसी का अङ्ग होकर भी, वह बालक उसमें नहीं के बराबर था। पेड़ों के झुण्ड से अलग जैसे कहीं कोई नन्हा बिरवा दिखाई देता है वैसे ही परिवार की सीमा में वह बालक था। मानव-शिशुओं की तरह उसका लालन-पालन नहीं हो सका था, पेड़ पौधों की तरह ही वह अमराइयों में खिलता-खेलता रहा।

अकेले वही नहीं, गाँव के अन्य घरों के लड़के-लड़कियाँ भी अमराई में आम की रखवाली करती थीं। किसका-किसका नाम लें! उनके लिए घर में कोई कमी नहीं थी, आम की फसल तो घलुए में थी। किन्तु इस बालक के लिए तो आम ही सहारा था। बाकी दिनों में भूखा-प्यासा ही रहता था। उसके रक्त-माँस-हीन शरीर की तरह ही उसका मस्तिष्क भी निर्बल था। उसे चक्कर आता, रास्ते चलते आँखों के सामने झाँय-झाँय मालूम पड़ती।

सबसे कमजोर होकर भी वह सबसे फुर्तीला था। जब सब लोग सबेरे की मीठी नींद में सोये रहते तभी वह घर से बगीचे में

चला आता। उस सूने निर्जन में उसे भय नहीं मालूम होता क्योंकि वहाँ झल-डाल पर चिड़ियों की चहचहाहट उसका स्वागत करती, मानों वह भी उन्हीं में से कोई एक हो।

बगीचे में ताजे टपके टटके पके आम उसके ही हाथ लगते। अन्य लड़के-लड़कियाँ जब वहाँ पहुँचतीं तब टापते ही रह जाते, उन्हें फिर से आम टपकने की प्रतीक्षा करनी पड़ती।

साँझ को जब बगीचा फिर सुनसान हो जाता, तब और कोई नहीं, वही बालक वहाँ बन की सूक्ष्म आत्मा की तरह, सन्ध्या समीर की तरह घूमता रहता। वह पेड़ों के शिखरों की ओर देखता—कहाँ किन पत्तों की ओट में कौन आम पका हुआ है! दूर से ही वह कच्चे और पक्के आमों को पहचान लेता। ऐसी थी उसकी पैनी दृष्टि! फिर चाहे कितनी भी ऊँचाई हो, चाहे वह कितनी भी विकट पेड़ की चढ़ाई हो, वह आम को बिना हथियाये नहीं रहता। ऐसा था वह रसलोभी!

वही बालक तो कवि विमल है। ऐसे बनचारी को कवि कौन कहेगा! कवि नहीं, वह तो कपि है!! जान पड़ता है कि राम की बानर सेना का कोई फिसड्डी सतयुग से कलियुग में सरक आया।

शैशव की इन्द्रियों में स्फूर्ति होते हुए भी उस शाखामृग में सांसारिक बुद्धि बिलकुल नहीं थी। मैं तो उसे कहूँगा बुद्धू। देखिये न, एक दिन पेड़ के नीचे ही शौच कर बैठा। वह जाना चाहता था मैदान की ओर, जब वहाँ तक नहीं पहुँच सका तब इधर-उधर एकान्त देखकर पेड़ के नीचे ही बैठ गया। थोड़ी देर बाद गुलबिया आई। वह पेड़ उसी का था। गुलबिया सब लड़कियों में सीधी थी। विमल ने सोचा, ऊँह, वह मेरा क्या कर लेगी! उसने अपने पेड़ के नीचे मुझे देखा ही कहाँ! किन्तु और किसी पर तो नहीं, विमल पर वह भी अपनी धौंस जमा लेती थी। विमल को जब उसने गिरफ्तार किया तो बहुत सफाई देने पर भी वह मानी नहीं। डरा कर, धमका कर विमल से उसने भंगी का काम करा ही लिया।

उन लड़कियों के नाम भी कैसे-कैसे थे—गुलबिया तो थी ही, घिरजिया, बतसिया, अनरिया (अनारकली) भी उस बालमण्डली की शोभा बढ़ाती थीं।

उस बालसमाज में रस घोलने के लिए ही क्या इन लड़कियों का भी प्रादुर्भाव हो गया था ! किन्तु लड़के तो आम का रस ही परख सकते थे ; भौंरे नहीं, चटोरे थे।

विमल को दो लड़कियों का सामीप्य मिला—घिरजिया, अनरिया ! न तो इनकी देह खिली थी, न मनसिज की गुदगुदी इन्हें गुदगुदा सकी थी। लेकिन यह क्या ! खेतों के मचान पर घिरजिया विमल को अपनी पङ्खड़ियों-सी इन्द्रिय (मानों पुष्प-पटल) विस्फारित करके दिखलाती वमल को कौतूहल हुआ। वह कोई रहस्य पा जाने के लिए उसका स्पर्श करने लगा। अगजग से अबोध उन बच्चों में यह सयानों जैसी चेष्टा कहाँ से आ गयी ! क्या यह अनहोनी बात है ! शायद पशुओं और मनुष्यों की हरकतों को देख-देख कर ही उन्हें इसकी प्रेरणा मिली हो। प्रकृति तो कुछ भी नहीं छिपाती।

तसवीरों और खिलौनों के प्रति बच्चों में जैसा आकर्षण होता है वैसा ही उनका निष्पाप आकर्षण सभी अच्छी-बुरी चीजों की ओर हो जाता है। समाज की परछाईं उनमें पड़ती थी, किन्तु वे तो नंगे-धड़ंगे मिट्टी के मटमैले ढेले थे। रस, रूप, गन्ध से अनजाने भिन कर भी अनगढ़ थे !....

अनरिया की उमङ्ग में कहानी जैसी कुहुक थी। ईख के कोल्हू के चाँचर पर विमल उसके साथ बैठ कर आकाश में परिक्रमा का आनन्द लेता था। वह न जाने कैसी-कैसी स्मृतियाँ जगाती थी—घर की रसोईं से लेकर गाँव की बातों से उसका मन लहराता रहता था। चाँचर के उतार-चढ़ाव के अनुसार ही उसकी स्मृतियों में भी एक ताल-सुर रहता था, उसी के साथ-साथ वह नाचती थी, थिरकती थी। मानों लोककथा के साथ लोकनृत्य करती थी।

और बतसिया ! लड़कियों में शायद वह सबसे सुन्दर सुडौल थी। सुन्दरता उसकी लजीली आँखों और मुस्कुराहट में थी। दृष्टि

के रेले-मेले के प्रति उसमें मुग्धता थी, किन्तु संकोच से अपने ही भीतर गड़ी-गड़ी रहती थी।

बच्चों के इस प्राकृतिक समाज में, उमर में बड़ा एक विकट विदूषक भी रहता था—नाम था सागड़। लोग उसे लबाड़िया समझते थे। वह सबके रुख-मुख और स्वभाव का स्वांग बनाया करता था। उसकी चेष्टाओं से जहाँ बच्चों को हँसी आती थी, वहाँ भय भी लगता था। वह वीभत्सता की मूर्ति था। छीना-झपटी, मार-पीट, गाली-गलौज उसके लिए मामूली बात थी।

कैसी-कैसी डरावनी बातें वह कहता था। साँझ के बाद जब बगीचे में सुनसान सन्नाटा छा जाता तब अँधेरी राह की पगडण्डी पर उसे चुड़ैल दिखाई देती।—बच्चे तो डर के मारे उधर कभी जा नहीं सकते थे, किन्तु उस शैतान के स्वांग को देख कर ही उसकी सङ्गिनी का अन्दाजा लगा लेते थे।.........

बचपन से ही लड़के-लड़कियों में शादी-ब्याह का भी खिलवाड़ होता था। घर-गृहस्थी से लेकर बाहर अमराइयों में ठहरने वाली बारातों से उनमें एक अनजानी रंगीनी आ गयी थी। लड़कियाँ खिलौनों की तरह बने मिट्टी के बासन-बर्तन लेकर रसोई की नकल करती थीं। कभी-कभी अपने गुड्डे-गुड्डियों का ब्याह भी रचाती थीं। लड़के चिढ़ाते—तुम्हें खोड़ा मर्द मिलेगा। लड़कियाँ चिढ़ातीं—तुम्हें काली-कलूटी कानी दुलहिन मिलेगी।

जहाँ प्रकृति अठखेलियाँ करती है वहाँ उसी की प्रतिकृति बच्चे भी खेलते-कूदते-थिरकते रहते थे। किन्तु विमल तो इस विश्वलीला में अधिक भाग नहीं ले सका। उसमें खेलने की प्रतिभा नहीं थी। वह तो उस बालसमाज की सरलता थी जो अपनी अनभिज्ञता के कारण बिना पात्रापात्र का विचार किये ही सभी को अपने समाज का अङ्ग बना लेती है। विमल का तो कोई स्थान नहीं था—न छोटे-बड़ों के समाज में, न घर में, न किसी के हृदय में। बचपन में ही वह अनाथ हो गया था। लोग उसे टूअर-टापर

कहते थे। उसने भी किसी परिवार में ही जन्म लिया था। किन्तु माया-ममता का दुलार नहीं पा सका था। सब लोग उसे दुग्दुराते ही रहते थे। कोई पालन-पोषण न मिलने पर भी उसका मृगछौने-सा क्षीण शरीर प्रकृति के क्रोड़ में मृणाल-तन्तु की तरह हिलता-डुलता रहा।

कौन उस करुणाकुमार को अपने आँचल का कुलदीपक बना सकता था! उसमें भी भूख-प्यास थी, उसमें भी सृष्टि का आकर्षण था, उसमें भी प्रवृत्तियों की प्रेरणा थी। किन्तु वह जीवन्मृत था। दलित मानवता के दुर्बल कलेवर में उसे एक अतीन्द्रिय मन मिल गया था। उसी से जी रहा था। दिगम्बर अनङ्ग की तरह वह मनोजीवी मनोज था। 'क्षिति-जल-पावक-गगन-समीरा' में जल-पवन-गगन से उसके मन का निर्म्माण हुआ था। इसीलिए स्वभाव में तरलता, सूक्ष्मता, अस्थिरता अधिक आ गई थी। वह उस बाल-विहग की तरह था जो पृथ्वी पर कुछ क्षण फुदक कर हवा में ही उड़ते रहना चाहता था। पृथ्वी पर उसका स्थान मनुष्यों के नीड़ में नहीं, माँ के आँचल में हो सकता था। किन्तु माँ कहाँ थी!........

ऐसा प्राणी दुनिया के किसी काम का नहीं हो सकता। बड़ों को उससे क्या मतलब, छोटे-छोटे बच्चे भी उसकी परवाह नहीं करते थे। वे उसे बुद्धू ही बनाते रहते थे। विधाता ने ही उसके जीवन को ऐसा व्यंगचित्र बना दिया था कि दुनिया के सभी कार्टून फीके हो गये।

—:*:—

: ३ :

सिद्धिश्री काशीपुरी में एक स्वस्तिकती आत्मा तीर्थवास करती थी। वह बालविधवा तपस्विनी थी। विधवा कहना उचित नहीं, उसकी आत्मा शाश्वत वालिका थी। वैधव्य ने उसके मूल व्यक्तित्व को ही क्षेपक-रहित कर दिया था। शरीर से वयस्क होकर भी भाव और स्वभाव से वह वैसी ही वैदेही (बिदेह चेतना) थी जैसी कन्या के जन्म के पहिले माताओं की मनोकामना और कविता के जन्म के पहिले कवियों की कल्पना होती है।

अपने लौकिक अस्तित्व में वह मानवी थी, किन्तु अपनी चेतना में स्वयं प्रकृति थी। प्रकृति के सभी रूप-रङ्ग-रस उसके स्वभाव और सौन्दर्य में समन्वित हो गये थे। कमलिनी-सी वह तन्वङ्गिनी थी। पिकी-सी मधुरभाषिणी थी। अग्नि-सा तेजस्विनी थी। सघन कादम्बिनी-सी करुणार्द्र थी। हृदय की तरह सरला थी।

उसका अन्तःकरण गङ्गाजल की तरह निर्म्मल था, जिसमें राग-विराग उषा-सन्ध्या की तरह प्रतिबिम्बित था। इसीलिये विधवा होते हुए भी उसके परिधान में गङ्गा के उस पार (प्राची) की अनुरागिनी उषा भी रंगीन थी, इस पार (प्रतीची) की संन्यासिनी सन्ध्या भी रंगीन थी।

देवदुर्विपाक से वह विधवा थी, समाज में अभिशप्ता थी। किन्तु दैवी और सामाजिक सहयोग न मिलने पर भी वह कङ्काल

नहीं थी, उसकी चेतना ने उसे आत्मिक ऐश्वर्य्य (अन्तर्विकास) दे दिया था। संस्कृति और कला से उसका जीवन सगुण-काव्य हो गया था।

काशी वह तीर्थयात्रा के लिये नहीं आयी थी। यहाँ तो उसके पिताजी ज्ञानोपार्जन के लिये आये थे, उन्हीं के पीछे-पीछे जाह्नवी की तरह माता भी इस नीरजा को अपने वक्षःस्थल से लगाये हुए चली आयी। पिता तो विरक्त संन्यासी हो गये, माता गोलोक-वासिनी हो गयी। दोनों की सजीव स्मृति इस विप्रकन्या (आत्मप्रज्ञा) में शेष रह गयी।

काशी तो कोई पुण्यधाम नहीं है, यहाँ भी अन्य नगरों की तरह पापों का पुञ्जीकरण है। किन्तु जिस तरह पाप-ताप अभिशाप-पूर्ण भवसागर में सरल शिशु अपना मनोलोक बना कर निवास करता है उसी तरह यह बालहंसिनी अपनी ही भावनाओं का तीर्थधाम बना कर काशी में निवास करने लगी। कोई अदृश्य चेतन अलख निरञ्जन उसे दृश्यजगत (भौतिक वातावरण) से ऊपर किसी ऊर्ध्वलोक में उठाये रहा।

पृथ्वी की तरह अपनी धुरी (ध्येय) पर स्थिर रह कर ही वह जीवन में गतिशील थी। सृष्टि की अनन्त यात्रा में ज्ञानेश्वरी काशी उसके ध्येय की धारणा-भूमि बन गयी। यहीं की आरती के प्रकाश में वह अपना पथ-सन्धान करने लगी। ......

अबला थी, कोमला थी; किन्तु छुई-मुई नहीं थी, विद्युल्लता थी। जिस कला ने उसे संस्कृति का सौन्दर्य दिया था, उसी कला ने सञ्जीवनी शक्ति भी दी थी। वह शिल्पिनी थी। उषा और सन्ध्या की स्वर्णाभा को साड़ियों के किनारे टाँके जाने वाले गोटे की बुनाई में बुनती थी। कलाकारों की आत्मनिष्ठा तो उसमें थी ही, जीविका के स्वावलम्बन ने भी उसे निर्भय बना दिया था।

सौन्दर्य्य और कला केवल उसका मनोरञ्जन नहीं, अलख निरञ्जन का भावाभिव्यञ्जन था। कबीर ने कहा है—

मुखड़ा का देखत दरपन में।
तोरे दया धरम नहीं मन में॥

सौन्दर्य और कला को जन-जन के मुखमण्डल पर उत्फुल्ल देखने के लिये ही वह वैष्णवी थी—'वैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीर पराई जाणे रे!'—हिंसा से उसे घृणा थी, चाहे वह मनुष्य की हो, चाहे किसी जीव की।

एक दिन ब्राह्ममुहूर्त में जब गङ्गास्नान करके लौट रही थी तब सीढ़ी पर कोई शुभ्र वस्तु दिखाई पड़ी। उसने संगममर के ठाकुरजी की बटिया समझ कर उसे उठा लिया। कैसी भोली थी! हाथ में लेते ही वह सफेद चीज फच्च से फूट गयी। वह तो किसी चिड़िया का अण्डा था। कीचड़ में पाँव पड़ जाने से जैसी जुगुप्सा होती है वैसी ही जुगुप्सा से उसका हृदय खिन्न हो गया। आत्मग्लानि से वह विक्षिप्त हो गयी थी, मानों मस्तिष्क को कोई 'शै' लग गया था।

किसी दिन सन्ध्या के समय समाज से सताई हुई एक दुखिया नारी आयी। घर-घर घूमकर उसने आश्रय माँगा। आश्रय का मूल्य बहुत महँगा था। सब जगह से निराश होकर जब वह वैष्णवी के द्वार पर पहुँची तब वह तुलसीचौरे पर सँझवाती सँजो रही थी। लोगों ने कहा—इस बेजानी-पहिचानी को ठहराना मत जी, न जाने किसके घर से क्या चुरा ले जाय!

किन्तु वैष्णवी ने आगे बढ़कर उसे अपना लिया। अपनी रूखी-सूखी नमक-रोटी और गङ्गाजल से उसकी भूख-प्यास शान्त की। छोटी-सी सीली कोठरी, एक ही चारपाई,—दुखिया को, वैष्णवी ने अपने ही साथ सुला लिया। रात्रि की निस्तब्ध नीरवता में रो-रोकर उसने अपनी जो रामकहानी सुनाई वह समाज के युग-युग के अत्याचारों की रोमाञ्चक कथा थी। दीपक का धुँधला उजाला उसके इतिहास पर क्षीण प्रकाश डाल रहा था।

वैष्णवी ने विगलित होकर कहा—अब तुम कहीं मत जाओ, यहीं रहो। हम दोनों मिलकर सुख-दुख में एक हो जायँगी।

दुखिया ने भारी मन से कहा—अपना-अपना भाग्य तो भोगना ही होगा जीजी ! मुझ अभागिन के कारण तुम अपने को परेशानी में मत डालो।

दूसरे दिन ब्राह्ममुहूर्त में वह उस रैनबसेरा से चली गयी। मुहल्ले के लोग अपना कुतूहल मिटाने के लिये जब द्वार पर आये तब उसे न पाकर वैष्णवी पर ही बरस पड़े। बोले—वह रातोंरात हम लोगों की चीजें चुरा कर भाग गयी। बड़ी धर्म्मात्मा बनी हो, हमारा नुकसान कौन पूरा करेगा !

कुंजड़ों और कबाड़ियों की तरह उन लोगों ने अपने वाग्बाणों से वैष्णवी को विद्ध कर देना चाहा। किन्तु वह डरी नहीं, विचलित नहीं हुई। उसने अपने स्वाभाविक तेज से उन लोगों को क्या जवाब दिया, याद नहीं। किन्तु चोर जिनके भीतर ही पैठा हुआ था, वे मुँह लटका कर चले गये।

जिसका मस्तक किसी के सामने झुका नहीं, जो अभिशापों में भी भस्मावृत्त चिनगारी थी, उस तपस्विनी की अग्नि-परीक्षा लेने के लिये ही विधाता ने मानों उसके पास एक और अभिशाप भेज दिया। अचानक गाँव से काशी आकर विमल भी उसी के द्वार पर जा पहुँचा।

उसने पुकारा—दीदी !

वैष्णवी उस समय अपने शिल्प के ताने-बाने को सुलझा रही थी। उस पुकार में उसे माँ के लिये रँभानेवाले किसी निरीह गोवत्स का बिकल कण्ठ सुनाई पड़ा। वह हड़बड़ा कर पुलकित पगों से द्वार पर दौड़ी आयी। विमल के करुण मुख को दुलरा कर बोली—आओ मेरे भैय्या !

—:❀:—

: ४ :

उस समय हिन्दू समाज रूढ़ियों में साँस ले रहा था। ईसाई और आर्य्यसामाजी इसे बौद्धिक दृष्टि से जगाना चाहते थे, किन्तु वे विशेष प्रभावित नहीं कर सके। हिन्दू धर्म भावप्रधान है, उसे कवि और कलाकार ही प्रभावित कर सकते थे। दुर्भाग्यवश सूर, तुलसी, मीरा के बाद हिन्दू समाज में कोई प्रभावशाली कवि नहीं आया। धर्म का मर्म लुप्त हो गया, केवल रूढ़ियाँ अथवा परम्पराएँ ही तुकबन्दी की तरह बनी रहीं। लोग धर्म भीरु हो गये। पृथ्वी को नरक बना कर परलोक के स्वर्ग का स्वप्न देखने लगे। ऐसे जड़ वातावरण में भी वैष्णवी की चेतना कुण्ठित नहीं हो सकी। रामायण में उसने पढ़ा था—

टरै न शम्भु सरासन कैसे ।
कामी बचन सती मन जैसे ॥

शिवत्व ने उसे आत्मबल दे दिया था। इसीलिए समाज से वह नैतिक संघर्ष करती थी। अपने आचार-विचार एवं नियम-संयम में बाधा पड़ने पर वह निकटतम परिचितों का भी बहिष्कार कर देती थी। तुलसीदास से उसने भी जीवन का मन्त्र पा लिया था—

जाके प्रिय न राम वैदेही ।
तजिये ताहि कोटि बैरी-सम,
जद्यपि परम सनेही ॥

वह आध्यात्मिक सत्याग्रही थी। ईसाई और आर्य्यसमाजी सनातन हिन्दू समाज से अलग होकर उसे तोड़-फोड़ रहे थे। वह उसी समाज में संघर्ष करते हुए आत्मनिर्म्माण कर रही थी।

वैष्णवी धर्म्मभीरु नहीं, धर्म्मप्राणा थी। रूढ़ियों और परम्पराओं को मानती थी, ये सब उसके लिए शरीर की स्नायुओं, सितार के तारों, काव्य की छन्दःशिराओं की तरह थीं। इन्हीं में भावना का सञ्चार कर धर्म्म को उसने भक्तिकाव्य बना लिया था। इसीलिए गँवई-गाँव का विमल उसका बालगोपाल हो गया।......

गाँव से नगर में आने पर विमल का मन नहीं लगता था। वहाँ प्रकृति का दिगन्त विस्तृत मुक्त प्राङ्गण था, यहाँ जन-संकुल संकीर्ण गलियाँ थीं, कृत्रिम राजमार्ग था। घनी आबादी के होते हुए भी नगर में वह सूनापन अनुभव करने लगा। नगर की तरह गाँव में भी उसके लिए कोई सामाजिक जीवन नहीं था, व्यावहारिक जगत तो सब जगह एक ही जैसा जटिल है। फिर भी गाँव में वह पिञ्जर-बद्ध विहङ्ग नहीं था। पेड़-पत्ते और पक्षियों के आकाश में स्वच्छन्द विहार करता था। मनुष्यों का साथ न मिलने पर प्रकृति से खेलता था। कल्पना से कवि जहाँ पहुँचता है वहाँ वह अपनी ग्रामचर्या से पहुँच जाता था।

उसका वह निसर्ग-लोक पीछे छूट गया, अब स्मृतियाँ ही उसके हृदय के एकान्त में करुण रागिनी बजाया करतीं। वह उदास हो जाता, बिलख-बिलख कर रोने लगता।

विमल को पाकर वैष्णवी का सूनापन भर गया था। वह अपने आँचल के लाड़-प्यार से इस रुआँसे बालक को सितारों की तरह, फूलों की तरह हँसा-खिला देना चाहती थी। लेकिन इसकी रुलाई रोके नहीं रुकती थी। वैष्णवी ने सोचा, यदि यह पाठशाला में पढ़ने जाय तो वहाँ अपने ही जैसे साथियों को पाकर इसका मन हिल-मिल जायगा।.........

पढ़ने-लिखने में विमल का मन लग गया। धीरे-धीरे जब उसे अक्षर-बोध हो गया तब उसे ऐसा जान पड़ा कि गाँव में जिस प्रकृति की अस्पष्ट मर्म्मर ध्वनि सुनाई देती थी उसी की सुस्पष्ट प्रतिध्वनि वात्सल्यमयी वैष्णवी के कलकण्ठ में है। अपनी शीतल छाया में जिस तरह प्रकृति उसे सुख, शान्ति, विश्राम देती थी उसी तरह यह लोकमाता भी स्नेह का लालन-पालन देती है।

गाँव के लड़कों की तरह नगर की पाठशाला के लड़के भी अब्बर के जब्बर थे। पढ़ने-लिखने में तेज होते हुए भी विमल सब लड़कों में निर्बल था। एक दिन किसी लड़के से झगड़ा हो गया। झगड़ा क्या, वह झपट्टा मारकर विमल का कागज-कलम छीन लेना चाहता था। हड़बड़ा कर विमल जब पीछे की ओर घूमा तो अड़ङ्गा लग जाने से शरारती लड़का चारों खाने चित्त गिर पड़ा। मास्टर साहब से वह कुछ कह नहीं सकता था (कहने से मार खा जाता)। घर जाकर उसने अपने बाप से शिकायत को। दूसरे दिन बाप विमल के मुहल्ले में आया। उस समय वह बरगद के पेड़ के नीचे खेल रहा था। हथौड़े जैसे हाथों से जब अचानक पीठ पर प्रहार हुआ तो विमल चिल्ला उठा। आर्त्तनाद सुनकर वैष्णवी घर से बाहर निकल आयी। उस दुर्दान्त पुरुष को देखकर गरज पड़ी—अरे, कोई पकड़ो इस आततायी को। किन्तु पराई जगह के भय से वह बर्ब्बर कापुरुष भाग खड़ा हुआ।

वैष्णवी गाय की तरह सूधी थी, किन्तु शिशु पर संकट आ जाने पर क्या गाय भी सिंहिनी नहीं हो जाती ऐसी ही मातृ-शक्ति के संरक्षक में विमल का जीवन संसरण कर रहा था।

जीवन-पथ पर चलते हुए वह अपने चारों ओर के वातावरण से वैसे ही निर्लिप्त था जैसे देहात में। उसके पथ का एक छोर घर की सीमा में था, दूसरा छोर विद्यालय के भवन में। घर में जिस वैष्णवी सरस्वती का निवास था, उसी के अञ्चल का प्रसार विद्यालय में भी था। बीच में कोई रुकाव-अटकाव या व्यवधान नहीं था,

माँ के हाथों से लोकाये हुए बालक की तरह वह फिर उसी के हाथ में पहुँच जाता था ।

बाहर के संसार से विमल का परिचय अभी नहीं हो सका था। घर में उसे यशोदा माँ मिल गयी थी, पास-पड़ोस में खेलने के लिए ग्वालबालों-जैसे सङ्गी-साथी। विमल खेलता तो था, किन्तु अन्य लड़कों की तरह नटखट नहीं था। नटखट होने के लिए जिस जीवनी शक्ति की जरूरत पड़ती है, वह समाज में उसी से वञ्चित था। शैशव के कारण स्वभावतः उसमें भी क्रीड़ाप्रियता थी, किन्तु हृदय वीतराग हो गया था, जड़ हो गया था।

लड़कों के साथ कभी उसका लड़ाई-झगड़ा नहीं होता था, इसलिए वैष्णवी के पास कोई उलाहना लेकर नहीं आता था। उलाहना मिलने पर वह क्या विमल को मारती-पीटती! ना, यशोदा की तरह ही वह उलाहना देनेवालों को ही फटकार देती।

बाहर यदि कोई विमल पर अत्याचार करता तो उसकी खबर वैष्णवी को नहीं मिलती, क्योंकि वह कुछ कहता नहीं था। सोचता, यह माँ भी मेरी तरह ही असमर्थ है, क्यों इसे दुखी होने दूँ। लेकिन, वैष्णवी अपनी आँखों के सामने किसी का कोई अत्याचार नहीं देख सकती थी। अत्याचारियों के लिए वह काली विकराली हो जाती थी।

अरे, बाहर न सही, विमल घर में ही कुछ नटखटपन करता! तब तो वैष्णवी को जीवन ही जीवन मिल जाता। हाँ, एक बार विमल ने उसे बहुत हैरान किया था, जब उसकी आँख आई थी। आँजने के लिए वैष्णवी भड़भाड़ का दूध अपनी उँगलियों में लगाकर उसे खोजती फिरती थी, वह पड़ोस के मैदान में खेलते-खेलते फाटक के पीछे छिप जाता। वैष्णवी जब उसे देख लेती तब विमल फाटक को बन्द कर अपनी पीठ से दबा देता। बहुत अनुरोध करने पर भी नहीं खोलता। बात यह थी कि आँजन उसकी आँखों को जितना ही कडुआ लगता था, माँ की ममता को उतनी ही गहरी हूक देने के

लिये वह प्रतिरोध करता था। इस पार वैष्णवी प्यार से पुचकार से उसे फुसलाती, उस पार वह दुलरुवे बच्चों की तरह मानलीला करता। अन्त में उसकी सुकुमारता पर दया आ जाती, द्वार खोल कर हिचकिचाते हुए आँजन अँजवा लेता।

यशोदा तो आये दिन बालकृष्ण को दण्ड देती रहती थी, किन्तु इस माँ के लिए कभी ऐसा सुअवसर नहीं आया। वैष्णवी का प्यार फूल से भी कोमल हो गया, उसने कभी विमल को फूल की छड़ी से भी नहीं मारा। अपने करपल्लवों से विमल के मुरझाये कमलमुख को ढाँप कर वह बहुत-बहुत दुलराया करती।.........

गाँव में प्रकृति की स्फूर्त्ति थी, नगर में आकर विमल आलसी हो गया। गाँव में तो वह अपना कर्त्ता-धर्त्ता विधाता स्वयं था, किसी से उसे कोई आशा-प्रत्याशा नहीं थी। अब माया-ममता-आत्मीयता पाकर उसका परिश्रान्त जीवन निढाल हो गया, जैसे माँ की गोदी में शिशु का तन-मन।

विमल मेधावी था, किन्तु बचपन से ही पारिवारिक पोषण न मिलने के कारण उसका मस्तिष्क क्षीण हो गया था। शरीर की तरह ही मस्तिष्क से भी अधिक आयास नहीं कर सकता था। गाँव में बहुत तड़के ही उठ कर अमराई में पहुँच जाता था, अब पाठशाला में जाने का वैसा उत्साह नहीं रहा प्रभात का सूर्य्य मस्तक पर चमकने लगता, उस समय भी वह सोता ही रहता। वैष्णवी उसे जगाने का बहुत प्रयत्न करती किन्तु विमल बिना आँखें खोले ही हाँ-हूँ कर देता। वह जैसे अपने वश में न हो मानों किसी अज्ञात लोक में किसी जादूगरनी ने उसके तन-मन-नयन को बन्दी बना दिया हो। उठने का प्रयत्न करके भी वह श्लथ होकर गिर पड़ता।

ओह, तस्करिणी-सी कौन गुफावासिनी विमल को उसकी तीर्थ-माता से छीन ले जाती थी?—बचपन की आँखों की वह गाढ़ी निद्रा! शैशव की तरह क्या जीवन में बार-बार आती है!! कौमार्य्य की इन्द्रियों में वह निर्दोष मदिरा की तरह रम गयी थी।

उस अचेतनता में भी विमल की चेतना स्पन्दित रहती थी। वही उसे पाठशाला जाने के लिए प्रेरणा देती थी। लेकिन कभी वहाँ समय पर नहीं पहुँच पाता। वह लेट-लतीफ था।

विमल के भाग्य में लक्ष्मी की तरह सरस्वती भी अधिक नहीं थी। अभी वह किशोरावस्था तक भी नहीं पहुँच सका था कि पढ़ना छोड़ दिया। क्यों? वह कहता—स्कूल बहुत दूर है, मास्टर साहब मारा करते हैं। किन्तु यह सब उसका बहाना था। असल में वह बँधी हुई पगडण्डियों को छोड़ कर खुली दिशाओं में विचरण करने के लिए उत्साहित हो गया था।.........

एक दिन सारी माया-ममता छोड़ कर निष्ठुर श्याम की तरह वह घर से चला गया। वैष्णवी वज्राहत हो गयी। मणिहीना फणिनी की तरह वह अपने खोये धन को कोने-कोने में ढूँढ़ा करती थी; किन्तु वहाँ सूना ही सूना था—

'सूने भवन यशोदा सुत के
गुन गुन सूल सहै।'

—०—

: ५ :

विमल इस समय कहाँ था ?—वह वन्य जीव किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर नगर की गलियों में घूमा करता, सड़कों पर चक्कर लगाया करता। जब भूख लगती, घर की याद आती। किन्तु वहाँ का द्वार वह स्वयं बन्द कर आया था।

एक दिन किसी अन्नक्षेत्र में भोजन करने गया। वहाँ साधुओं और संस्कृत के विद्यार्थियों को खाना मिलता था। विमल न तो साधू था, न विद्यार्थी। फिर भी अपनी तनिक-सी उम्र के कारण किसी भी समाज में समा सकता था। उस दिन अन्नक्षेत्र में उसे भोजन मिल गया। किन्तु दूसरे दिन क्षेत्र के मठाधीश बूढ़े साधू बाबा ने उसे जवाब दे दिया। बमभोले विमल ने कहा—तो क्या मैं भूखों मरूँ ! बूढ़े बाबा ने कहा—ना, विश्वनाथ और अन्नपूर्णा की नगरी में कोई भूखों नहीं मर सकता।

उस बाबा की तरह सब तो यही जवाब दे सकते थे, फिर भोजन कौन देता !

काशी में उन दिनों बहुत से अन्नक्षेत्र थे। राजा-महाराजा, जमींदारों जागीरदारों, सामन्तों और व्यापारियों का पुराना वैभव बना हुआ था; अतएव वे अन्नक्षेत्रों, पाठशालाओं, मन्दिरों, मठों, और धर्म्मशालाओं के रूप में धर्म्म की आढ़त चलाते थे, पापों का प्रायश्चित्त करते थे।......

विमल एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में भोजन करके जीवन-यापन करने लगा। ऐसा परावलम्बी जीवन उसे पसन्द नहीं था। प्रकृति से बीज-रूप में उसने अपना स्वतंत्र अस्तित्त्व पाया था, किन्तु गाँव और नगर कहीं भी उसके लिए उर्व्वर क्षेत्र नहीं था, दोनों ही स्थान कृत्रिम अर्थशास्त्र से मरुस्थल हो गये थे। क्या वह भी अपना हृदय ऐसा ही बना लेता !

विमल कर ही क्या सकता था।—खेती, नौकरी दूकानदारी, चोरी-सीनाजोरी, इनमें से किसी के लिए भी उसमें योग्यता नहीं थी। दुर्बल शरीर और निर्बल मस्तिष्क से वह कोई भी श्रम नहीं कर सकता था। श्रम ही नहीं, संघर्ष करने की सामर्थ्य भी चाहिये। इसकी भी क्षमता उसमें नहीं थी। ऐसे जीव को पृथ्वी पर आना ही नहीं चाहिए था। आ गया तो उद्भिजों की तरह उसे भी विकसित होने के लिए अनुकूल वातावरण मिलना चाहिये था।

पाठशाला में उसने जो थोड़ी-सी विद्या पढ़ी थी, उसके कारण वह पढ़े-लिखों के समाज में आने जाने लगा। अपनी स्वल्प विद्या के लिये उसमें आत्म हीनता नहीं थी। विद्या अविद्या से परे उसका अगजग से अनजान शिशुहृदय जन्म से ही ज्योतिर्म्मय था। जल-वायु और प्रकाश की तरह वह अपनी नैसर्गिक प्रेरणा से यत्र-तत्र सर्वत्र भ्रमण करने लगा।

भूख प्यास की इन्द्रियों से यदि विमल बँधा नहीं रहता तो केवल आकाश से ही बातें करता। किन्तु दाना-पानी के लिए पक्षी की तरह उसे भी पृथ्वी के सम्पर्क में आ जाना पड़ता। अपनी विद्या-बुद्धि से जो लोग सफलता की चोटी पर पहुँचे हुए थे वह उन लोगों से मिल कर परामर्श माँगता, जीवित रहने के लिए उपाय पूछता।

शैशव के उत्साह में वह सबको सहृदय समझ कर बहुत बातें करता, किन्तु कहीं भी उसे अपने मन का समाधान नहीं मिलता था। विश्वविद्यालय के एक अध्यापक से भी उसने बातें कीं, किन्तु

रेकार्ड किये ग्रामोफोन से क्या आशा की जा सकती थी। वह अध्यापक भी तो उसी आर्थिक प्रणाली का घिसा-घिसाया पुर्जा था जिससे किसी सजीव मनुष्य का निर्म्माण नहीं हो सकता था। विमल ने मन ही मन कहा—यह अध्यापक उससे किस बात में बड़ा है जिसके पास जीवन का कोई अनुसन्धान-समाधान नहीं है। कैसा खोखला है। उसकी अपेक्षा उसे अपने में अधिक सजीवता जान पड़ी। कोई सहारा न होते हुए भी कम से कम उसमें जीवन की उद्‌बुद्धता तो थी जो कभी न कभी चेतना का प्रवाह भी बन सकती थी।

विमल सोचने लगा—जहाँ ऐसे अध्यापक हैं वहाँ छात्रों को क्या मौलिक चेतना मिल सकती है! विश्वविद्यालय उसे निरर्थक शून्यता के महा आडम्बर जान पड़े। शायद संसार ही ऐसा हो।

स्कूल की पढ़ाई छोड़ने के बाद विमल को साहित्य से प्रेम हो गया था। एक लेखक की रचनाओं से इतना प्रभावित हुआ कि उसकी जीवनी लिख डाली। किसी पत्रिका के सम्पादक के पास गया। सम्पादक एक साथ ही लेखक, दार्शनिक, वैज्ञानिक और देश-सेवक, सब कुछ था। मानों दुनिया में चलने के लिए उसने अनेक शरीर धारण कर लिये थे। विमल के बाल-प्रयास को उसने देखने का भी कष्ट नहीं किया। इतना रूखा था कि जिसकी जीवन लिखी गयी थी उसके सम्बन्ध में अपने राग-द्वेष को एक वाक्य में ही विस्फोटित कर दिया—'अमुक व्यक्ति को मैं खूब जानता हूँ!'—यह खूब जानना क्या होता है, दुनियादारी से अनभिज्ञ विमल समझ नहीं सका। वह सकपका गया। यह कैसा विद्वान, दार्शनिक और देशसेवक है जो 'खूब जानता' है, किन्तु बच्चों के साथ व्यवहार करना नहीं जानता। उसको अपेक्षा तो वे बेपढ़े-लिखे सीधे-सादे लोग बहुत भले हैं जिनमें वात्सल्य होता है।

नगर में खुले हृदय के एक प्रतिष्ठित नागरिक रहते थे। पुराने रईसी खानदान के खाते-पीते खुशहाल आदमी थे। युवावस्था

पार हो जाने पर भी उनके स्वभाव में लड़कपन था। बिलायत से बैरिस्टरी पास कर नगर को शोभा बढ़ा रहे थे। लड़कों की तरह सरल होते हुए भी भीतर से गुरुगम्भीर नागरिक थे, जैसे बाहर से तरङ्गित और भीतर से कोई गहरी नदी हो। ईमानदार खिलाड़ी की तरह वे जिन्दगी से खेलते थे। खेल में हार जाने पर भी उदास नहीं होते थे, जीतनेवाले को बधाई देते थे। उनमें आंग्ल नागरिकता की सुरुचि और संस्कारिता थी।

एक दिन विमल उनसे भी मिला। कहाँ उतना बड़ा आदमी, कहाँ छोटा-सा विमल ? लेकिन वे इतने मिलनसार थे कि विमल उन्हें अपना ही समझने लगा। उस सयाने शिशु से यह नन्हा शिशु हिलमिल गया। उनका सहयोग पाने के लिए उनके पास आने-जाने लगा। कभी-कभी दूध-बताशा के लिए वे पैसे दे दिया करते थे। बहुत कुछ न पाने पर भी विमल अनुभव करता था कि वे ही उसके अभिभावक हैं।

उस सहृदय नागरिक ने देखा कि विमल बातें तो बुद्धिमानों की-सी करता है, किन्तु इसका मुँह दुधमुँहे बच्चे-जैसा है। यह अपने अभावों को चिन्ताग्रस्त गृहस्थों की तरह प्रकट करता है, वय-सुलभ खिलाड़ीपन का इसमें नाम नहीं। विमल के इस अकाल-वार्द्धक्य से नागरिक एक दिन झुँझला उठा। चिढ़ कर उसने कहा—तुम्हारी क्या उम्र है ?

विमल को अपनी उम्र मालूम नहीं थी। यदि उम्र ही जानता होता तो जिन्दगी में बेहिसाब क्यों हो जाता, दुनिया से ठगा क्यों जाता !

नदी में तैरना वह जानता था। नदी की विस्तीर्णता और अपनी लघुता का ख्याल किये बिना ही कूद पड़ता। न इस छोर को देखता, न उस छोर को; डूबता-उतराता, उलझता सुलझता, नदी को पार कर जाता। सीमाओं को भूल कर ही वह सीमाओं से उत्तीर्ण हो जाता। इसी तरह भवसागर को भी पार करना चाहता था।

नागरिक के तीक्ष्ण प्रश्न के उत्तर में विमल उस स्कूली लड़के की तरह सहम कर मौन हो गया जो मास्टर के सामने बिना अपराध के भी अपराधी-जैसा हो जाता है।

नागरिक ने मानों अपनी ही बीती हुई आयु के प्रति सहानुभूति-पूर्ण होकर और बढ़ती हुई आयु के प्रति खीझ कर कहा—अभी तो तुम्हारे खाने-खेलने के दिन हैं। दुनिया का चक्कर छोड़कर जरा खाओ-खेलो ! तुम्हारी उम्र में मैं तो खूब खाता-खेलता था।

खाना-खेलना किस लड़के को अच्छा नहीं लगेगा ! लेकिन वे नागरिक महोदय विमल की परिस्थितियों में आ जाते तो क्या किसी उद्यान की बुलबुल की तरह चहकते रहते !

विमल को ऐसा जान पड़ा कि अपना घर-द्वार और माया-ममता का परिवार न रहने पर समाज एक ऐसा बीहड़ जंगल बन जाता है जहाँ माली कोई नहीं, प्रत्येक पेड़-पौधे को अपनी जीवनी शक्ति और दैवी संयोग पर ही निर्भर रहना पड़ता है।...

कोई विशेष आधार न मिलने पर भी विमल स्वयंरुह की तरह पृथ्वी पर अपना अस्तित्त्व बनाये रहा। वह आये दिन भूखा-प्यासा रहता। कभी-कभी अकस्मात् कहीं से जो थोड़ा-बहुत खाद-पानी मिल जाता उससे ही उसका नव-किसलय-सा कोमल शरीर अपनी कृश शिराओं में उज्जीवित रहता।

ऐहिक कष्टों से विमल हतोत्साह नहीं हुआ। वह मनस्वी था, साँसरिक अभावों को अपने ऊपर हावी नहीं होने देता था। 'जगत-र्मात' उसे छू नहीं सकी। बाहर से निर्धन होते हुए भी भीतर से वह शून्य नहीं था ! वहाँ कुछ ऐसा अदृश्य ऐश्वर्य्य था जो कौमार्य्य की तरह ही दीप्तिमान था, इसीलिए विघ्न-बाधाओं से वह निष्प्रभ नहीं हो सका। दुनिया के धुंध-धुँआसे में जीवन का पथ स्पष्ट न होते हुए भी आत्मोन्मेष से उसे आलोक मिलता रहा। उसके पग तो पृथ्वी पर ही थे, किन्तु मन चेतना के केन्द्रलोक-अतीन्द्रिय-लोक में स्थित होकर श्रेय-प्रेय की प्रेरणा ग्रहण करने लगा।

उसके दिवङ्गत पिता की भी गति-विधि ऐसी ही थी। वे रमता जोगी थे।

अपने बाल्यसंस्कारों में प्रकृति की स्वाभाविकता, रसाल की सरसता, पिता की परिव्राजकता, वैष्णवी की सात्विकता लेकर विमल अनिश्चित भविष्य की ओर चलता रहा।

—:❀:—

: ६ :

अपनी छोटी-सी परिधि में नवल विमल अपने चारों ओर के वातावरण के प्रति जो अस्वीकृति लेकर चल रहा था, वही अस्वीकृति सन्' २० विस्तृत परिधि में युग-पुरुष गांधी की आँधी बन कर आ गयी। आनेवाले तूफान का क्षीण कम्पन जैसे शीशमोग्राफ़ में हो जाता है वैसे ही क्या समय के पहिले ही विमल में भी उसका स्पन्दन हो गया था!

विमल समाज से असन्तुष्ट था, गान्धी का असन्तोष उस प्रणाली से था जिसने समाज को स्वार्थों का समूह बना दिया था। नैतिक रूप में समाज को और राजनैतिक रूप में साम्राज्यवादी शासन को गान्धी बदल देना चाहता था। उसका उद्देश्य हृदय-परिवर्तन था। उद्देश्य के अनुरूप ही कार्य्यक्रम भी सात्त्विक था। असहयोग, बहिष्कार, सत्याग्रह, ग्रामोद्योग,—यही गान्धी का निषेधात्मक और रचनात्मक प्रयत्न था।

जिस कारण से राजनीति दूषित थी, उसी कारण से सामाजिक रीति-नीति भी दूषित थी। दोनों के कार्य्य-कारण-परिणाम एक ही थे। अतएव, गान्धी का आन्दोलन विभिन्न क्षेत्रों की तरह विभक्त नहीं था, वह तो एकमात्र अविभक्त मानवता का आन्दोलन था। यों कहें, आन्तरिक जागरण (अन्तःशुद्धि) के कारण सांस्कृतिक

आन्दोलन था। ऐसा आन्दोलन या तो प्रह्लाद की तरह कोई बाल-हंस कर सकता था, या कोई परमहंस। शिशु हृदय विमल और करुण-हृदय वैष्णवी अपनी-अपनी एकाई में जिस मानव-चेतना के विरल विन्दु थे, उसी चेतना का विशाल सिन्धु गान्धी था। वह इन्हीं निःसहायों का सहायक, इन्हीं लोकात्माओं का महात्मा था।

अपने आन्दोलन से गान्धी ने उस समय की सारी कृत्रिम कार्य्य-प्रणालियों और उनके प्रेरणाकेन्द्रों को अस्वीकार कर दिया था। सदियों से बँधे-बँधाये ढर्रे पर चलनेवाले लोग स्कूल, कालेज, विश्वविद्यालय, अदालत, मशीनी माल, छोड़ने लगे। विमल इस असहयोग आन्दोलन के पहिले ही पढ़ना छोड़ चुका था। लेकिन इसके बाद वह क्या करता! लोग सविनय अवज्ञा करके जेल जाते थे, जेल को ससुराल कहते थे। विमल के लिए तो बाहर का संसार ही कारागार था। जिस जनता के कल्याण के लिए असहयोग-आन्दोलन चला था, विमल स्वयं वह जानता था।

भूखा-प्यासा तो रहता ही था, बदन ढँकने के लिए कोई साबूत कपड़ा भी नहीं था। अपनी जरूरतें वह कभी-कभी उन बैरिस्टर बुजुर्ग से कहा करता था जिन्होंने उसे खाने-खेलने का उपदेश दिया था। वे असहयोग-आन्दोलन में सम्मिलित हो गये थे, खादी पहनने लगे थे। खादी ही नवनिर्म्माण का सात्त्विक प्रतीक बन गयी थी। उन्होंने विमल के लिये भी खादी के कपड़े बनवा दिये। उस समय की खादी वर्णमाला का नया-नया अभ्यास करनेवाले शिक्षार्थियों के अक्षरों की तरह अनगढ़ थी, ऊबड़-खाबड़ थी। वह खादी नहीं, खद्दर थी।

विमल ने खद्दर देशसेवा के भाव से नहीं पहिना था। कोई भी कपड़े मिल जाने पर पहिन लेता। लेकिन जब उसने देखा कि यह खद्दर किसी गुदड़ी बाजार में नहीं बिकता, यह आश्रम की तरह पवित्र समझे जानेवाले स्थानों पर ही मिलता है, नगर के बड़े-बड़े लोग भी इसे पहनते हैं, तब खद्दर के लिए विमल के मन में आदर उत्पन्न हो गया। उसे पहन कर वह भी आत्मगौरव का अनुभव करने लगा।

छोटा-सा विमल उस समय खादी की स्वदेशी फिलासफी को भला क्या समझ सकता था! किन्तु उस मोटे-झोटे परिधान से आच्छादित उसका शरीर अपने ग्रामीण संस्कारों से स्पन्दित हो उठता था, अनजाने ही वह उसके साथ अपना सामञ्जस्य पा जाता था। सहज मानवीय सद्भावनाओं के लिए उसका लालायित हृदय एक बात साफ समझ गया—अंगरेजी राज्य दूकानदारी का राज्य है। असहयोग-आन्दोलन उसकी वणिक्वृत्ति का बहिष्कार करता है।

विमल किशोरावस्था में पहुँच चुका था। सन् २०–२१ में अपने देश के इतिहास के उस नवीन अध्याय (असहयोग-अन्दोलन) का आरम्भ अपनी आंखों से देख सका। वह भी उसीका एक पीड़ित अङ्ग था।

जीवन में अभाव और असन्तोष का अनुभव करता हुआ भी विमल उस समय मानव-स्वभाव की विडम्बनाओं से परिचित नहीं था। कपड़ा रँगाये जोगियों की तरह खद्दर पहननेवाले भी उसे साधु ही जान पड़ते थे। धार्मिक दृष्टि से वह श्रद्धालु था। अब अपनी श्रद्धा राजनीतिक नेताओं को भी देने लगा। जब किसी नेता का आगमन होता, दर्शनों के लिए ललक कर दौड़ पड़ता। राष्ट्रीय जागृति के उस रेले-मेले में चकित, विस्मित, आत्मविस्मृत, उत्सुक शिशुदर्शक की-सी उसकी स्थिति थी।

और किसी का ध्यान तो उसकी ओर नहीं जाता था, केवल एक दुष्ट की दृष्टि भीड़ में भी उस पर जा पड़ती थी, क्योंकि अशर्फियों के ढेर में वह कौड़ी की तरह अदना-सा था। जिस विमल को सार्वजनिक चहल-पहल से कुतूहल होता था, उस विमल को उसका दुर्दंष्ट अपने कुतूहल का पात्र समझता था। सयानों के उस जमघट में इतना नन्हा खद्दरधारी नागरिक शायद ही नहीं था। वह दुष्ट विमल के नन्हेपन को विद्रूप की दृष्टि से देखता था। उसे पागल समझता था। कहता—तुम जेल में नहीं,

पागलखाने में भेजे जाओगे। बाल-स्वभाव क्या सचमुच पागलों-जैसा ही होता है !

बड़े डील-डौल का वह भारी भरकम भलामानस भी देशसेवकों का बानक बनाये हुए था। जिसमें शिशु के लिए सहानुभूति नहीं, उसमें देश के लिए भी क्या दर्द हो सकता था ! विमल उसके व्यङ्ग-विद्रूप और कुटिल हास्य से सकुच कर अपने को निकम्मा समझने लगता था। वह करता भी क्या था ! अपने कमरे में नेताओं के चित्र टाँग कर उनको पूजा करता था।

नेताओं के वे चित्र अब कहाँ देखने को मिलेंगे ! चित्र मिल भी जाएँ तो उनकी वह आयु कहाँ मिलेगी ! वे दिन, वे लोग कहाँ मिलेंगे ! !......

मातृमन्दिर में यथास्थान प्रतिष्ठित उस समय के सभी नेताओं के सुरुचिपूर्वक संयोजित चित्र में एक राष्ट्रीय गीत मानों चित्र-प्रदक्षिणा करके जयमाल की तरह सुशोभित हो गया था। विमल आरती के सङ्गीत की तरह वह गीत गुनगुनाया करता था—

भारत जननि ! तेरी जय, तेरी जय हो !
सेवा में तेरी माता तत्पर सदा हृदय हो ॥

उन दिनों कवियों से लेकर जनसाधारण तक ने न जाने कितने राष्ट्रीय गीत लिखे थे। कैसे-कैसे उनके तर्ज थे, कैसी-कैसी उनकी भाषा ! वे गीत समुद्र के उद्‌गारों की भाँति उद्वेलित थे। देश के भाग्यपटल पर दुर्ग्रह की तरह आरूढ़ विदेशी शासन को समाप्त कर देने के लिए उन गीतों में आवेश और आक्रोश रहता था। किन्तु देहात में भूत और नगर में पुलिस के भय से डर जाने वाला विमल उत्तेजित नहीं हो पाता था, वह चमत्कृत रह जाता था। गीतों से उसे केवल रागव्यञ्जकता का आनन्द मिलता था।

रामलीला और कृष्णलीला में स्वयं भाग न लेने पर भी विमल अपने नाटकीय आकर्षण से जैसे उससे सम्बद्ध रहता था वैसे ही राष्ट्रो समारोहों से भी। देश के कोने-देश के कोने-कोने से आगमन

होता रहता, टाउनहाल में बड़ी-बड़ी सभाएँ होतीं। मैदान में मानों बाढ़ उमड़ पड़ती।.......

पुस्तकें पढ़ानेवाली पाठशालाएँ पीछे छूट गयी थीं, सभाएँ जीवन की पाठशाला बन कर सामने आ गयी थीं। यहाँ विमल का मन लगता था। घर से स्कूल में देर से जाता था, सभाओं से देर में आता था। जितने ही अधिक व्याख्यानदाता होते थे, उतनी ही अधिक देर होती थी। कभी-कभी आधी रात हो जाती थी।

इधर-उधर भटकने के बाद विमल एक वैद्य के यहाँ रहने लगा था। बदले में उनका छोटा-मोटा काम कर देता था। वैद्य की हवेली बहुत बड़ी थी। पुरखों की कमाई और स्वभाव की कड़ाई विरासत में मिली थी। उनकी नई उम्र की गरमाहट के साथ खरल की कुटाई और भेषज की कड़ुवाई का पुटपाक हो गया था।

जाड़े की एक रात में जब विमल देर से घर पहुँचा तब बहुत खड़खड़ाने पर भी भीतर से किसी ने दरवाजा नहीं खोला। अन्त में खड़खड़-भड़भड़ से उकता कर स्वयं वैद्य जी को दरवाजा खोलना पड़ा। बिना कोई कैफियत पूछे ही उन्होंने विमल को तड़ातड़ तमाचा लगा दिया। अरे रे, यह कैसा दुर्दण्ड दण्ड! स्कुल में पाठ याद न रहने पर विमल मार खाता था, यहाँ नेताओं का व्याख्यान याद रहने पर भी मार खा गया!!

विमल भी कैसा नादान था—भला इतनी रात गये किसी भले आदमी के आराम में खलल डाला जाता है! उस दीन दुनिया से गये गुजरे गरीब में इतनी ही समझ होती तो वह न घर का न घाट का क्यों हो जाता!

वैद्य जी ने डपट कर कहा—उठा अपना चिथड़ा-गुदड़ा, चला जा इसी दम यहाँ से!

विमल के पास था ही क्या!—उसकी स्वर्गीया माँ की धरोहर एक पुरानी-धुरानी पगोडे-जैसी पिटारी, जिसमें उसकी टूटी-फाटी कुछ किताबें रखी हुई थीं। अपने सिर पर कलश की तरह उसे ही

घर कर विमल जब गली में आया तब सोचने लगा—अब जाऊँ किधर ?

अड़ोस-पड़ोस में और भी कुछ जाने-पहिचाने बड़े घर थे। विमल वहीं कहीं आश्रय लेने के लिए चल पड़ा। उस सुनसान अँधेरी रात में क्या वह सुरंग के भीतर रेल की तरह चला जा रहा था? नहीं, उसका कोई निश्चित स्टेशन नहीं था। उसकी गति में कोई उत्साह नहीं था। हम कहें, वह माया के भीतर जीव की तरह, निद्रा के भीतर साँस की तरह डोल रहा था।......

बड़े घरों का हृदय भी क्या बड़ा होता है! कौन जाने, हृदय तो छोटे-बड़े घरों में नहीं, मनुष्य के भीतर रहता है। उस रात में जब विमल को किसी बड़े घर ने आश्रय नहीं दिया तब एक धीमर उसे अपने घर ले गया। खपरैल से छाई छोटी-सी राममड़ैया, उसी की अटारी में कथरी बिछा कर विमल को सुला दिया।

वैष्णवी उस समय कहाँ थी? विलग रहने पर भी विमल मिलने-जुलने वालों से उसका समाचार ले लेता था। एक दिन सम्वाद मिला—वैष्णवी भी अब किसी एक जगह नहीं रहती। वातावरण से ऊब कर वह ठौर-ठौर अपना ठिकाना बनाती है। पहिले घर से बाहर निकलने में उसे लोकलाज लगती थी, अब वह खुल कर सामाजिक बहिष्कार करती है। देवी ही दुर्गा हो गयी थी।

विमल तो स्वेच्छा से सामाजिक निर्वासन भोग रहा था, किन्तु वैष्णवी तो समाज में ही रह कर सगुण की साधना करना चाहती थी। जान पड़ता है, राजनैतिक शासन ही नहीं, सामाजिक शासन भी इतना असह्य हो गया था कि वैष्णवी उच्छ्वसित होकर समाज को अभिशाप देने लगी थी। अब भी वह सत्यम् शिवम् सुन्दरम् की ही आराधना करती थी। उसी के लिए समाज से संघर्ष कर रही थी। संघर्ष क्या, एकाकिनी श्रद्धा जड़ समाज में सती की तरह आत्मदाह कर रही थी।

उस समय की आर्थिक व्यवस्था में जिन लोगों के स्वार्थ सुरक्षित थे उनकी प्रतिक्रिया असहयोग-आन्दोलन के विरुद्ध आरम्भ हो गयी थी—वे थे राजर्म्मचारी, साम्प्रदायिक जनता और उसके नेता। वैष्णवी इनमें से किसी की भी श्रेणी में नहीं थी। वह तो निश्चेतन सनातन हिन्दू समाज में उसी अन्तश्चेतना को लेकर चल रही थी जिसे गान्धी जी समस्त भारतीय समाज में नवजीवन से ज्वलन्त कर देना चाहते थे। वैष्णवी सामयिक आन्दोलनों से प्रेरित नहीं थी, परिचित भी नहीं थी। अखबारी दुनिया से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। अपनी ही सुरुचि से सामाजिक संघर्ष कर रही थी। क्या मीरा ने भी ऐसा ही नहीं किया था!...........

देश में जब बड़ी-बड़ी समस्याएँ चल रही थीं तब विमल को अपने पेट के लिए ही लाले पड़े हुए थे। सच तो यह है कि जो लोग विमल की तरह भूखे-प्यासे नहीं थे वे भी अपने पेट के लिए ही असहयोग-आन्दोलन के पिछलगुआ हो गये थे। उनका पेट लाभ की तरह ही बड़ा था। विमल भजन के लिए भोजन चाहता था, वे लोग भोजन के लिए भजन करते थे। ऐसे लोग प्रतिक्रियावादियों की अपेक्षा किस बात में अच्छे थे! —इसके उत्तर में आज का इतिहास उस समय मौन था।

किन्तु मुहल्लों में कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं ने घर-घर से एक-एक मुट्ठी अन्न लेकर मुट्ठीभण्डार खोल दिया था। क्या गान्धी जी के दरिद्रनारायण के लिए! नहीं, उससे उन्हीं निठल्लों का पेट भरता था जिनके लिए देश-सेवा भी एक पेशा थी। किसी ने विमल को सुझाया, तुम भी मुट्ठीभण्डार में जाओ न। किन्तु अन्नक्षेत्रों की तरह उसके लिए वहाँ का भी द्वार बन्द था। उसे मतलब साधनेवाली विद्या नहीं मालूम थी। शायद विधाता ने पेट की आँच में तपा-तपा कर उस ब्राह्मणकुमार की वर्ण-शुद्धि बनाये रखने के लिए ही इस विद्या से उसे वञ्चित कर दिया था।

: ७ :

गुलामी सिखानेवाली पाठशालाएँ छोड़ कर शिक्षार्थी राष्ट्रीय विद्यालयों में पढ़ रहे थे। स्कूलों, कालेजों, विश्वविद्यालयों का बहिष्कार करनेवाले छात्र और अध्यापक यहाँ आ गये थे। वैसी ही पढ़ाई और वैसी ही प्रणाली यहाँ भी थी। परिवर्त्तन हो भी नहीं सकता था, क्योंकि शिक्षा प्रचलित अर्थशास्त्र से मुक्त नहीं हो सकी थी।

तब विमल को क्या मालूम था कि विदेशी गुलामी और स्वदेशी गुलामी में कोई अन्तर नहीं है। उसने भी नगर की राष्ट्रीय शिक्षा-संस्था में नाम लिखा लिया। क्या पढ़ने के लिए? नहीं, नये अनुभव के लिए। उसने सोचा, शायद यहाँ के वातावरण से उसे कोई अवलम्ब मिल जाय। यहाँ पढ़ने के लिए था भी क्या! हाँ, अँगरेजी वह सीख सकता था। यदि अंगरेजी ही पढ़नी थी तो उसके लिए स्कूलों की कमी नहीं थी।

अंगरेजी वह सीख नहीं सका। हिन्दी ही कैसे सीख सका? हिन्दी तो उसकी मातृभाषा थी। मैं तो कहूँगा, उसे हिन्दी का ही औरस बनाये रखने के लिये विधाता ने उसकी श्रवणशक्ति क्षीण कर दी थी। आप कहेंगे, भूखे-सूखे भारत का प्रतिरूप देने के लिए ही विधाता ने उसके शरीर को भी क्षीण कर दिया था। हाँ, यह भी ठीक है। किन्तु उसे जीवन तो मिलना ही चाहिये।

विमल चाहता था कि पेट के लिए अलग और मस्तिष्क के लिए अलग आयास न करना पड़े ! गान्धी जी भी तो यही चाहते थे। गाँवों का जीवन उनके सामने था। वहाँ एक ही श्रम (कृषि) से उत्पादन और चिन्तन का सम्पादन होता आया है।

विमल तो अपने स्वल्प शरीर से जीवन का ग्रामीण शुल्क (नैसर्गिक श्रम) चुका कर ही नगर में आया था। यहाँ की कृत्रिमता में जो कुछ त्याग और तप जान पड़ता था वह उसका स्वाभाविक धर्म्म बन गया था।

विमल नागरिक विषमता में चल नहीं पा रहा था। किन्तु गाँव में भी वह कहाँ चल सका ! तिनके-जैसा उसका शरीर देख कर ही ज्ञात हो जाता था कि वहाँ का अन्नजल उसे मिला नहीं। बाँस की तीलियों-जैसे सूखी ठठरियों पर थोड़ी-सी मिट्टी की परत ही उसकी देह बन गयी थी। सच तो यह कि उसका तन-मन गाँव और नगर कहीं का नहीं था, वह तो देश-काल रहित असीम चेतना का एक संक्षिप्त चित्र मात्र था, जो किसी तरह शरीर का पतला फ्रेम पा गया था।

हवा में उड़ जाने वाला उसका शरीर कोई विशेष श्रम नहीं कर सकता था। सूक्ष्म शरीर की तरह ही उसका मस्तिष्क भी हलका-फुलका था। वह तितली और भौंरे की तरह कोई सरस कोमल प्रयास ही कर सकता था।

किन्तु कौन देखता है किसी के भाव और स्वभाव को। जहाँ ऐसे लालबुझक्कड़ हैं जो हिरन के पैर में हाथी का पाँव बाँध देने का मनसूबा रखते हैं वहाँ सब धान सवा बाइस पसेरी ही हो जाता है।

राष्ट्रीय विद्यालय में चर्खा-कर्घा चलाना एक अनिवार्य्य कार्य्य था। चौरीचौरा के बाद असहयोग-आन्दोलन स्थगित हो गया था। केवल कताई-बुनाई ही उस आन्दोलन की प्राणशिरा अथवा श्वास-तन्तु बन कर रह गयी थी। विमल भी चर्खा-कर्घा चलाना सीखने लगा। किन्तु शिल्प से अधिक वह कार्य्य रोजगारी जान पड़ा।

कक्षा से लेकर कलाबत्तू के कारबार तक जीवन के सभी कार्य्य तो रोजगारी ही हो गये थे। विमल को कुछ अच्छा नहीं लग रहा था। वह चाहता था, जैसे ब्रज के असन-वसन-गोचारण से लेकर गोवर्धनधारण तक प्रत्येक कार्य्य एक कला-महोत्सव बन गया था, वैसे ही राष्ट्रीय कार्य्य भी आनन्द-समारोह बन जाय।

किसी बन्धन में न बँधने वाला विमल राष्ट्रीय विद्यालय में उसी तरह घिसट रहा था जैसे किसी होल्डर में ढीला-ढाला निब। एक दिन वह उसमें से भी ढिलक गया।

दुहंष्ट ने विमल को पागल कहा था। वह पागल नहीं तो और क्या था? किसी भले घर के लड़के को तरह जब उसे खाने-कमाने का धन्धा करना चाहिये था तब वह क्या गोरखधन्धा ले बैठा!—आध्यात्मिक ताना-बाना बुनने लगा। वह भी गाने लगा—

झीनी झीनी बीनी चदरिया

काहे क ताना काहे क बाना, कौन तार सों बीनी चदरिया
इंगला पिंगला ताना-बाना, सुख मन तार सों बीनी चदरिया
साईं को बुनत मास दस लागे, पञ्चतत्व सों बीनी चदरिया
सो चादर सुर, नर, मुनि ओढ़ी, ओढ़ि कै मैली कर दीनी चदरिया
दास कबीर जतन सों ओढ़ी, जैसी की तैसी धरि दीनी चदरिया

विमल ने अपनी देह की चादर स्वयं नहीं बुनी थी। वह तो वंश-परम्परा से मिली थी। खादी भी वह नहीं बुन सका, उसे भी उसने देह की तरह ही धारण कर लिया था। विमल के पास अपना कहे जाने लायक कुछ भी तो नहीं था। जीवन?—वह भी तो शरीर के सम्पुट में ओस-बिन्दु की तरह कहीं से टपक पड़ा था।

सब तरह से निःस्व होकर विमल विश्वमय हो गया। उसे ऐसा जान पड़ा, उसका अस्तित्व सबके साथ जुड़ा हुआ है। सारी सृष्टि जुड़वाँ है। वह सबसे ललक कर मिलता, सबके लिए उसके हृदय में प्रेम था।

न कुछ पढ़ा, न लिखा; न दुनियाँ को भलीभाँति देखा-भाला; उस मिट्टी के नन्हें से पुतले में कैसे आध्यात्मिक चेतना आ गयी ! हम कहें, उसके भीतर जो जीव जुगजुगा रहा था वह अपने शरीर से निर्लिप्त था, तभी तो भूख-प्यास उसकी प्रधान समस्या नहीं बन सकी। भूखा-प्यासा रहने पर भी वह अपने में मगन रहता था। उसके पिता भी तो ऐसे ही थे। वैष्णवी भी तो ऐसी ही थी। क्या थी उनकी जीवन शक्ति ? अरे, अपर्णा पार्वती के भीतर जो शिव था वही उनकी भी जीवनी शक्ति था।

संसार जिसे अधिकार कह कर लड़ता-झगड़ता और हथियाता आया है वह विमल का संस्कार नहीं बन सका था। गाँव में खेतों और बगीचों को लोग अपना-अपना कह कर अधिकार जमाते थे, किन्तु विमल प्रत्येक पेड़-पौधे को अपनी ही तरह जीवित प्राणी समझता था। वे भी उसी की तरह खिलते थे, आत्मीय जान पड़ते थे। वन्यजीवों से जिस तरह कोई मनुज शिशु हिलमिल जाता है उसी तरह विमल पेड़-पौधों से घुलमिल गया था। उन्हें याद कर वह अब भी रो पड़ता है।......ऐसा ही प्रेमल स्वभाव लेकर नगर में आया था।

अपना अधिकार जता कर वह पृथ्वी से अधिक मिट्टी नोच-खसोट नहीं सका, इसीलिए उसका भौतिक अस्तित्त्व दुर्बल ही रह गया। जमीन के ऊपर पपड़ी की तरह उकची हुई थोड़ी-सी मिट्टी से उसके शरीर की रचना अवश्य हुई थी, किन्तु मिट्टी ही उसकी आत्मा नहीं बन गयी थी। आत्मा का निर्म्माण मिट्टी की सोंधी महँक (सुरभित चेतना) से हुआ था। विमल उसी सुवासित आत्मा का फुलसुंघा था, भावुक था, कवि-हृदय था।......

आत्मा के उस राजकुमार को जब भूख-प्यास लगती थी, तब देह की भी याद आ जाती थी। जिस मिट्टी की गन्ध से उसकी आत्मा बनी थी उस मिट्टी की देह की उपेक्षा कैसे कर सकता था ! इसीलिए देह के प्रति अनासक्त होते हुए भी वह उससे विरक्त नहीं

था। निर्गुण निःसङ्ग होते हुए भी देह के कारण ही सगुण सामाजिक प्राणी था। हाँ, शरीर से बँध कर संकीर्ण नहीं हो गया था, आत्मा से अनुभावित होकर विस्तीर्ण हो गया था। वह तो मध्ययुग की वही सांस्कृतिक प्रजा था जो असहयोग-आन्दोलन के पहले से ही चला आ रहा था। उस युग की भाव-चेतना के अनुरूप इस युग में औद्योगिक वातावरण नहीं था, इसीलिए विमल निराधार हो गया।

भूख-प्यास से छीजी हुई होने पर भी विमल की 'झीनी-झीनी चदरिया' लहरियादार थी। उसकी दुबली-पतली देह में एक स्वाभाविक कला-भङ्गिमा थी। कृष्ण की ही त्रिभङ्गी छवि, कृष्ण का ही कुञ्चित केश-कलाप ! वेश न कृष्ण का, न गान्धी का; न पीताम्बर, न कुरता-धोती-टोपी। गान्धी की खादी उसकी लचीली कमर में दो हाथ की लुंगी बन गई, कृष्ण की बाँकी अदा उसकी सुन्दर सुकुमार काया में बल खा गयी। निर्गुण के बाने में सगुण का वह अलबेला बालयोगी अपरिचित अनजान जगत में परदेशी की तरह डोल रहा था।

—:*:—

: ८ :

विमल किशोरावस्था पार कर रहा था। इन्द्रियों के पोषण के लिए उसे अन्न-जल तो पर्याप्त मिल नहीं सका, फिर भी उसके रक्त में रसोन्मेष होने लगा। भूख-प्यास से उसे अपने ही शरीर का भान होता था, अब रसोन्मेष से अन्य शरीरों का भी आभास मिलने लगा, उसके रक्त में अनुरक्ति आ गयी। इस अनुरक्ति को ही क्या रति-लालसा कहते हैं ?

शैशव में भी तो वह अनुरक्त होता था। छोटे बच्चे अपनी ही इन्द्रियों से खेलते हैं—मुँह में अँगूठा डाल लेते हैं, उपस्थेन्द्रिय को ठुमकाने लगते हैं। अपने में समा न पाने के कारण कौतूहल और विस्मय से दृश्यजगत की ओर आकर्षित हो जाते हैं। खिलौनों के साथ ही तितलियों, फूलों, सितारों, लहरियों में अपनापन खोजते हैं, उनके साथ खेल-खेल कर आत्मक्रीड़ा का रहस्य पा जाना चाहते हैं। प्रारम्भ में उनका आकर्षण रूप-रंग और गतिमयता की ओर रहता है, इसके बाद ज्यों-ज्यों रक्त का स्फुरण उन्मादक होता जाता है त्यों-त्यों आकर्षण सक्रिय आदान चाहने लगता है। रूप-रंग-गति में रक्त की ही रमणीयता रहती है इसीलिए रति में भी उसी का आकर्षण बना रहता है। इसे कहते हैं उद्दीपन।

विमल भी आकर्षण और उद्दीपन का अपवाद नहीं था। शिश्नोदर की प्रवृत्ति सभी में एक-सी होने पर भी अवस्था-भेद होता है। भूख-प्यास बचपन में भी लगती है किन्तु शिशु की तृप्ति अन्न-जल से नहीं, दूध से होती है। माँ के स्तनों में उसका आकर्षण भी रक्तजन्य ही है, आदान-प्रदान वहाँ भी है, किन्तु वह यौवन के आकर्षण से कितना भिन्न है!

माँ के आँचल से बाहर अमराइयों में प्रकृति के प्रांगण में बालक विमल जब अपनी बालसहेलियों के साथ खेला करता था तब उसमें कौतूहल था, किन्तु शृंगारिक आकर्षण और उद्दीपन नहीं था। इसके बाद अन्न-जल से अभ्यस्त हो जाने पर उसमें शारीरिक आकर्षण भी आ गया। कोरा आकर्षण निष्क्रिय उद्दीपन है। वह यह नहीं जानता था कि इस आकर्षण की तृप्ति क्या है! किन्तु सौन्दर्य्य की पहिचान उसे हो गयी थी। यह कैसे? जैसे किसी अच्छी तसवीर की पहचान हो जाती है। सबमें तो वह पहिचान नहीं होती, उसके लिए तो चितेरी चितवन चाहिये। विमल की दृष्टि में चित्रकला थी।

सौन्दर्य्य को देख कर वह मुग्ध हो जाता था, उसका सामीप्य चाहता था। फूल को सूंघा जाता है, प्यार से चूमा जाता है, गले का हार और शय्या का शृंगार बना लिया जाता है। किन्तु विमल यह नहीं जानता था कि सौन्दर्य्य का उपभोग कैसे किया जाता है। निष्क्रिय उद्दीपन से वह विकल विह्वल हो उठता था।

विमल तो स्वयंसुन्दर था। कवि की-सी उसकी प्रकृति और कला की-सी मुखाकृति थी, फिर भी सौन्दर्य्य की दृष्टि से वह अपने को रिक्त समझता था। उसे अपना रक्तशून्य चुचका-पुचका मुख ऐसा जान पड़ता था कि शिल्पी ने केवल छवि की रेखायें खींच कर ही हाथ समेट लिया। इसीलिए उसके कपोल रूप-रंग से रीती प्याली की तरह खाली गड्ढे बने रह गये। भाग्य की भाषा में कहा जा सकता है कि दुनिया में उसे भेजते समय विधाता ने उसके मुख को स्टाम्प

समझ कर अपने डाकखाने की मुहर इतनी जोर से लगाई कि वह अचक-पचक गया।

जहाँ कहीं वह मांसल सौन्दर्य्य देखता उससे अभिभूत हो जाता, उसी में अपने को पा जाना चाहता। तब उसे क्या मालूम था कि उसी का रक्त-शोषण सुसम्पन्नों का मांसल सौन्दर्य्य बन गया है।

.........उपवन में फूल-फूल से परिचित होते-होते एक दिन उसका परिचय अपने से भी छोटे प्रसून से हो गया। विमल तो किशोर होकर भी आकर्षण के रहस्य से अनभिज्ञ था, किन्तु यह क्या, उस छोटे प्रसून ने कहाँ से कैसे रहस्य का सब रहस्य पा लिया था! उसीने विमल को बतला दिया—फूलों में भी रज और पराग होते हैं, उनमें भी आकर्षण, उद्दीपन और प्रजनन होता है। कैसा भोला था विमल, जिसे इतनी सी बात भी अब तक नहीं मालूम हो सकी थी!

रसबोध हो जाने पर विमल वासना के प्रवाह में मछली की तरह बहने लगा।

क्या सचमुच विमल को आकर्षण का रहस्य मालूम हो गया था? मनोवैज्ञानिक से दृष्टि तो नारी को चिररहस्यमयी कहा जाता है, किन्तु विमल के लिए शारीरिक दृष्टि से भी नारी अभी एक अनबूझ पहेली ही थी। उसमें लिङ्गचेतना आ गयी थी, वह यह समझने लगा था कि उसकी वासना का कोई सम्बन्ध नारी से भी है। किन्तु कैसे, किस मार्ग से, यह वह अब भी नहीं जानता था। अब भी वह पौगण्ड था। छोटी बड़ी लड़कियों से लेकर बड़ी-बूढ़ी औरतें तक, सब उसे अपने से भिन्न एक रहस्य जान पड़ती थीं। बड़ी औरतों के बड़प्पन के आगे वह अपने को छोटा अनुभव करता था, किन्तु छोटी लड़कियों को देख कर उद्वेलित हो जाता था। उनकी ओर चुम्बक की शक्ति से खिंच जाता था। नारी क्या लज्जा और संकोच लेकर ही पृथ्वी पर जन्म लेती है! गुड़ियों-जैसी नन्हीं-नन्हीं बालिकाएँ भी विमल को एकान्त में देख कर सिमट जाती थीं।

शहर में सड़क पर आते-जाते विमल की निगाह जब कभी ऊपर उठ जाती तो देखता—ऊँची अटारी की खिड़कियों पर कैसी सुन्दर-सुन्दर औरतें बैठी हुई हैं। मुहल्ले-टोले की स्त्रियों से भी उनका रूपरंग- निखरा हुआ था, पहनावा सभ्य महिलाओं जैसा था। किन्तु मुहल्ले-टोले की भली स्त्रियाँ तो इस तरह खिड़कियों पर नहीं बैठती थीं। विमल ने सोचा ये शायद रईस घराने की लाड़ली ललनाएँ हैं।

विमल उनकी ओर हसरत की आँखों से देखता और दिल मसोस कर रह जाता। वे आकाश की तारिकाओं की तरह दुर्लभ जान पड़ती थीं। तब उसे क्या मालूम था कि वे वेश्याएँ हैं।

वेश्या क्या है? उसने वेश्या शब्द का नाम भी नहीं सुना था। हाँ, उसने एक बार मुहल्ले की किसी बारात में, महफिल में भरी गदराई देह की गोरी-गोरी एक हँसमुख और चुलबुली औरत को नाचते-गाते देखा था। लोग उसे रंडी कहते थे। क्या चीज है रंडी? किसे कहते हैं रंडी! लोग उसके नाच-गाने पर न्योछावर होकर वाह-वाह कहते थे, खिलखिला कर फबतियाँ कसते थे, बोली-ठोली कसते थे। विमल न तो उनकी वाहवाही को समझ सकता था और न फबतियों को, न ठिठोली को। यह भी नहीं समझ सकता था कि रंडी और अन्य औरतों में क्या फरक है। कुछ भी नहीं समझ पाने पर भी विमल को उसका नाचना-गाना अच्छा लग रहा था। तभी से नृत्य भी उसके मन का एक कला-संस्कार बन गया था।

उसके चारों ओर सृष्टि का मेला लगा हुआ था, किन्तु कहीं से उसे सजीव सहयोग नहीं मिल रहा था। बचपन में वह खिलौनों, पतङ्गों, फिरहरी, लट्टू को पाकर निहाल हो जाता था। ये सब भी तो कला की वस्तुएँ थीं, किन्तु कितनी निर्जीव। विमल इनकी निर्जीवता को अपनी ही सजीवता से जीवन्त कर देता था। उसी के जीवन से उनमें भी जीवन आ जाता था। अब नववय के आकर्षण का आलम्बन सजीव हो जाने पर भी उसे निर्जीव माध्यम से ही मन बहलाना पड़ता था।

उन दिनों बाजार में कार्ड साइज की रंग-बिरंगी बिलायती तसबीरें बिकती थीं। गलियों में घूमते हुए विमल की निगाह उन पर पड़ गयी। क्या था उन तसबीरों में ?—जवान साहब और मेमों का सुन्दर जोड़ा। कैसे-कैसे उनके तर्ज थे, कैसे-कैसे उनके हाव-भाव! किसी तसबीर में मेम कुर्सी पर झुकी हुई मोजे पहन रही है, सामने खड़ा युवक भी झुक कर बातें कर रहा है, सलाह कर रहा है। किसी तसबीर में मेम चाँदनी की तरह हँस रही है, युवक उसके हाथों को चूम रहा है। किसी तसबीर में मेम कुर्सी पर बैठी हुई सामने देख रही है, पीछे उसके कन्धों पर झुका हुआ युवक कानों में कुछ गुपचुप कह रहा है।......

आर्ट पेपर की तरह चिकना कार्ड और वैसी ही चिकनी जवानी, किशोरावस्था की सहज स्निग्ध दृष्टि! विमल उन तसवीरों को घंटों देखा करता, मानों वे कोई सरस पहेली हों। पहेली तो वह बूझ नहीं पाता था, किन्तु उसे यह देख कर आश्चर्य होता था कि स्त्री-पुरुष इस तरह इकट्ठे भी हो सकते हैं! समाज में नारी का जो शरीर दुर्लभ है वह यहाँ इतना सन्निकट है!! क्या मतलब है इनके यहाँ इकट्ठे होने का ? किससे पूछे, कौन बतावे। बचपन के खिलौनों की तरह यदि वह इन तसबीरों को भी सजीव कर पाता तो इन्हीं से पूछ लेता।

गलियों में घूमते-घूमते ही उसके हाथ में कुछ देशी तसवीरें भी आ गयीं। अरे, यह क्या! एकदम नंगी तसबीरें!। पुरुष जानवरों की तरह स्त्री के शरीर से मनमाना खिलवाड़ कर रहा है। स्त्री भी पालतू पशु की तरह बेबसी से, लाचारी से, या देह की विवशता से उसकी इच्छाओं का साथ दे रही है। विमल सोचने लगा, क्या वासना में स्त्री-पुरुष के शरीर का ऐसा ही बर्बर उपयोग होता है! आदमी भी क्या हाथी-घोड़ा-खच्चर और कुत्ता-कुतिया ही है ? तरह-तरह के कपड़ों और पहनावों में जो स्त्री-पुरुष भले आदमी जान पड़ते हैं, वे इतने निर्लज्ज, इतने बेहया, इतने बेपर्द, इतने

ढीठ हो सकते हैं ! विमल को इस बात पर विश्वास नहीं हुआ, नहीं हुआ। उसे वह सब बदमाशों की शरारत जान पड़ी।

उन नंगी तसवीरों को देख कर विमल की अज्ञात लालसा भी चञ्चल हो उठती थी। किन्तु तसवीरों में सब कुछ देख लेने पर भी उसे उनके साथ अपनी वासना का लगाव सही जान पड़ा। पेट की भूख-प्यास ने उसे अन्न-जल से परिचित करा दिया था, किन्तु वासना की भूख ने अन्नजल से बने किसी कोमल कमनीय शरीर से अभी परिचित नहीं कराया था।

भोजन की तरह उसकी वासना के लिए भी संसार का द्वार बन्द था। भोजन तो वह कभी-कदाच कुछ पा जाता था, किन्तु वासना के लिए कहीं कोई साधन नहीं मिलता था। क्या इसलिए कि संसार बहुत सदाचारी था, अन्न-क्षेत्र की तरह वासना का भी क्षेत्र नहीं चला सकता था। अरे, अन्न की तरह वासना पर भी उन्हीं लोगों का सामाजिक अधिकार था जिन्होंने कितनों को कंगाल बना दिया था।

पेट की भूख की तरह वासना की भूख भी विमल के लिए ठोस समस्या थी। भोजन जैसे उसके लिए भोज नहीं, सेक्स उसके लिए वैसे ही रोमांस नहीं था। नये-पुराने रसिक लेखक नाटकों, उपन्यासों, कहानियों और कविताओं में प्रेम की जैसी रंगीनी दिखाते हैं वैसी रंगीनी विमल के जीवन में नहीं आयी। शौकीन पाठकों को धोखा देने से क्या फायदा क्यों इस अभागे के जीवन को उनका सस्ता मनोरञ्जन बना दूँ, सच्ची बात ही कह दूँ—

मुहल्ले में पुराने रईसों का एक खानदान रहता था। पास-पड़ोस के कारण विमल भी वहाँ आया-जाया करता था। खानदान का सबसे बड़ा मर्द गुण्डा और शराबी था। उसकी लड़की से विमल का हेलमेल हो गया, जैसे छोटे बच्चों में हो जाता है। लड़की अभी बाल्यावस्था को पार कर रही थी, किन्तु विमल से चतुर थी। वह उसे अपने शरीर से खेलने के लिए लुभाती थी।

खेलने का ढंग सिखाती थी। वासना का स्वाद न मिलने पर भी विमल को उसके देहस्पर्श से सुख मिलता था।... इसी तरह दोनों एक दिन खेल रहे थे।....

उस दिन शराबी बाप किसी काम से बाहर चला गया था। सुनसान देखकर बरामदे में ही दोनों एक दूसरे को स्पन्दित कर रहे थे। नेपथ्य में नियति इस स्नेहलीला को कुटिल दृष्टि से देख रही थी। अचानक जनकपुर के स्वयम्वर में क्रुद्ध परशुराम की तरह लड़की का पिता प्रकट हो गया। लड़की से तो उसने कुछ नहीं कहा, विमल पर ही अपने क्रोध का रौद्र प्रहार किया। रङ्ग म भङ्ग हो गया। अब कहिये, भला कथा में रंगीनी कहाँ से आवे। कल्पना की करामात दिखाई जा सकती है—जैसे, प्रेमी-प्रेमिका एक दूसरे के लिए तड़पने लगे, उन्हें दिन में चैन और रात मे नींद नहीं आती थी। दूर से देखकर उसास लेते थे, आह खींचते थे। कभी-कभी खिड़की के रास्ते आँखों-ही आँखों में अपने-अपने जी की बातें कहते थे। किन्तु यहाँ कला की यह कारीगरी 'सियन सुहावन टाट पछोरे' हो जायगी। अभी प्रेमी-प्रेमिका इतने सयाने कहाँ हो सके थे !

वे दोनों भी कैसे नादान थे ! संसार में खेलना चाहते थे, किन्तु अपने चारों ओर चहारदीवारी खड़ी करना नहीं जानते थे। और कुछ नहीं तो दुनिया के चोरदरवाजों में साँकल ही लगा लेते !

लड़की के उद्दण्ड पिता ने विमल को प्रताड़ित किया था। क्या किसी नैतिक अपराध के कारण ?.......तो क्यों वह दूसरों की बहू-बेटियों की इज्जत लूटता था ? क्यों वह गरीबों का सब कुछ हड़प लेना चाहता था ? क्यों वह दुर्बलों को सताता था ?

यदि कोई उसकी हैसियत या उसकी हैसियत से बड़े घराने का लड़का होता तो क्या उसके साथ भी विमल-जैसा ही बर्ताव करता ! कितने घरों में न जाने क्या-क्या तो होता है, कौन उधर ध्यान देता है, कौन उसका लेखा-जोखा रखता है। उत्तम-मध्यम-निकृष्ट,

जिनकी कुछ भी सामाजिक स्थिति होती है उनमें खान-पान-रोमांस सब कुछ चलता है। मनुष्य अपने अहम् का ही आदान-प्रदान करता है। जहाँ उसके अहम् को ठेस लगती है वहाँ अहङ्कार करता है, क्रोध करता है।......छल-बल-कल से जिनकी दुनिया पृथ्वी की किसी भी सतह पर जमी हुई है उन्हीं की आपस में रिश्तेदारी होती है, शादी-ब्याह होता है, उत्सव और त्योहार मनाया जाता है। यहाँ तक कि तोता-मैना भी किसी डाल के सहारे बैठ कर ही सरस संलाप करते हैं। इन सबके मुकाबिले क्या थी विमल की सामाजिक स्थिति! न घर, न द्वार, न जीवन, न जीविका, न स्वजन, न परिजन, केवल एकाकी अनिकेतन। उत्तम, मध्यम, निकृष्ट, समाज की किसी भी श्रेणी में उसकी गणना नहीं हो सकती। वह वर्गहीन मानव संतान है, क्या इसी कारण नगण्य है!

पेट की भूख-प्यास में भी विमल जैसे अतीन्द्रिय भावुक था, वैसी ही वासना की भूख-प्यास में भी। भूख-प्यास शरीर का स्वभाव है, भावुकता अथवा सहृदयता चेतना का स्वभाव। क्या है चेतना? वही जिससे शरीर शिवधाम बना हुआ है।

हरि ॐ!

: ६ :

अब और नहीं, भूख-प्यास अब और झेले झिल नहीं रही है। उसका शरीर यों ही डंठल था, अब खाद-पानी के अभाव में सूखता जा रहा था।

एक दिन विमल किसी गन्दी गली में चला जा रहा था। रईसों और सईसों सबका कूड़ा-कचरा राह में पड़ा हुआ था, बित्ता भर भी जमीन सुरुचि से साफ सुथरी नहीं थी। गन्दगी और बदबू से हवा का भी दम घुट रहा था।

चलते-चलते विमल के पगतल में कोई चिकनी-सो चीज चिपक गयी। उसे छुड़ाने से लिए हाथ बढ़ाने पर उसने देखा—वह तो पापड़ है। न जाने कितने लोग इस रास्ते से आये-गये होंगे, कितनों के फूहड़ पैर इस पर पड़े होंगे, लेकिन पापड़ ज्यों का त्यों था, टूट कर चुरमुरा नहीं हो गया था। यह क्यों? पापड़ कच्चा था। विमल उस दिन बहुत भूखा था, दो दिन से कुछ खाया नहीं था। अस्पृश्यता और आचार-विचार के वातावरण में जन्मा हुआ भूखा कुमार कुठाँव में गिरे हुए उस गलीज पापड़ को खा गया। क्या इससे उसकी भूख शान्त हो गयी! वह तो और बढ़ गयी। यह उसके पेट के साथ भूख का कैसा मज़ाक था! इसे वे क्या जानें जो पापड़ खाकर भोजन पचाते हैं, डकार लेते हैं। नहीं-नहीं, कितनों को मोहताज कर डकार भी नहीं लेते।

विमल शहर जा रहा था। वैद्यराज जी ने उसे बुलाया था। कौन वैद्यराज ? वही जिन्होंने विमल को एक दिन अपने घर से निकाल दिया था। पुरखों की कमाई चुक गयी थी। लाचार होकर शहर की सबसे घनी और धनी आबादी की गली में उन्होंने अपनी बैदगीरी की दुकान खोल ली थी। नौकर-चाकर वे रख नहीं सकते थे, बेगार के लिए उन्होंने विमल को फुसला लिया था। वह फिर उनकी पुरानी हवेली में रहने लगा था।

विमल को बुलाया किस लिए था ? उसे मालूम नहीं। विमल जब वहाँ पहुँचा तब एक कोने में रखी हुई टोकरी की ओर इशारा कर उन्होंने कहा—देखो, इसे ठीक से घर दे आना, राह में बन्दरपना मत करना।

अब बात समझ में आ गयी। दूसरे दिन दीवाली थी, उसीके लिए यह सरंजाम था। टोकरी में अन्नकूट के कँगूरे की तरह मिठाई सजी थी, पत्तलों और दोनों से ढँकी थी। अहा हा !

एक दिन विमल अपनी माँ की पिटारी सिर पर रख कर वैद्यराज के घर से निकल पड़ा था। अब मिठाई की टोकरी सिर पर रख कर फिर उनके घर जा रहा है। पिटारी की तरह यह मिठाई की टोकरी भी भारी नहीं थी, लेकिन उसे सँभाल कर ले जाना आसान नहीं था। तनिक-सा भी डगमगा जाने से सब गुड़ गोबर हो जाता। लेकिन रस्से के ऊपर मदारी सिर पर घड़ा रखे हुए जिस तरह हिलते-डुलते थिरकते हुए इस छोर से उस छोर तक चला जाता है उसी तरह विमल भी मिठाई की टोकरी सँभाले हुए घर पर पहुँच गया। खाने की कौन कहे, राह में उतार कर उसने देखा भी नहीं। क्या किसी के भय से ? किसी के रोब से ? ना, भय और रोब से चोरी करना नहीं छोड़ देता। मै तो कहूँगा, उसकी बुद्धि में विकार नहीं हो गया था। हरे, हरे, उस बुद्धू में बुद्धि थी भी कहाँ ! तो यह कहिये, वह दुष्ट नहीं था।

वटी और गोलियों का गिन-गिन कर हिसाब रखनेवाले वैद्यराज जी दुकान से जब घर आये, तब अपनी टोकरी को ज्यों का

र्यों पाकर खुश हो गये। हँस कर बड़ी मिठास से बोले—राह में कहीं कुछ गपक तो नहीं गया रे !

विमल को आशा था कि उसे भी मिठाई मिलेगी। लेकिन मिली यह जबान की कोरी चाशनी !......

विमल को तो ठोस चीज चाहिये। उसे रोटी चाहिये, सेक्स चाहिये। रोटी और सेक्स में कौन प्रबल है ! रोटी का रसावेश ही तो रतिवासना है। वासना प्रबल इसलिए जान पड़ती है कि उसमें रोटी का चिरसञ्चित वेग एक साथ ही अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है मानों समुद्र में एकदम से ज्वार आ जाता है। रोज-रोज रोटी न मिलने पर भी रस निःशेष नहीं हो जाता। जितना रस संचित रहता है उतने से ही रसोद्वेग हो जाता है। फिर विमल की अभी तो किशोरावस्था थी। नववय की किसलय-सी कोमल ताजी इन्द्रियों की भूख-प्यास और टटकी वासना का क्या कहना ! तनिक-सी भी चिकोटी और गुदगुदी बहुत जान पड़ती थी। उसमें थी लाल कोंपलों की रक्तशिराओं की सद्यः-प्रस्फुटित संवेदनशीलता।......

कस्तूरीमृग की तरह अपनी ही दुग्ध-स्निग्ध गन्ध से व्याकुल होकर विमल अब वासना की तृप्ति के लिए इधर-उधर भटकने लगा। कहाँ है उसकी वासना की प्रतिमा-सुषमा ! कहाँ मिलेगी उसे अपनी मधुर कामना की पूर्णिमा ! !......

घुमक्कड़ विमल एक दिन चरागाह की ओर चला गया। ऐसे ही तो वह प्रायः उधर चला जाया करता था। खुली जगहों में घूमने-विचरने की उसकी देहाती आदत बनी हुई थी। नगरों में बन्दी वन्यजीव वन की ओर ही तो भाग जाना चाहता है।

मकान नहीं, अट्टालिका नहीं, सड़कें नहीं, गलियां नहीं, नालियां नहीं, मोरिया नहीं, समुद्र और आकाश की तरह प्रकृति का वहाँ उन्मुक्त भौगोलिक विस्तार था। खुली हवा, खुली साँस, जीवन के लिए कहीं कोई अवरोध नहीं। सघन वृक्षों का कुञ्जवन, दूर-दूर

तक फैले हुए हरे-भरे खेत, द्रवित हृदय की तरह सजल-तरल तालाब, सृष्टि के केन्द्र-बिन्दु की तरह सुस्थित छोटा-सा शिवमन्दिर। विमल के लिए यह स्थान बचपन से ही पहिचाना हुआ था। परम रम्य यही आराम तो उसके पिता का तपोवन है। यहीं तो उनकी गोद में वह कभी खेला करता था। आज भी वह खेलना चाहता है। किन्तु नया खेल तो मालूम नहीं, किससे खेले, कैसे खेले!

शैशव की इन्द्रियों में किशोर अनुभूतियों ने जैसे रूपान्तर कर दिया था वैसे ही बचपन के तपोवन में भी उसकी नई आँखों ने परिवर्तन कर दिया था। अब वह उसे मधुवन जान पड़ता था। किन्तु इस मधुवन की माधवी कहाँ!

शिवमण्डप के नीचे एक तरुणी वनबाला खड़ी थी, वह अपने ढोरों को चरा रही थी। उसके ढोरों की तरह ही तो विमल भी था। उन्हीं की तरह भूखा और उन्हीं की तरह प्राकृतिक प्रेरणाओं से अनुप्रेरित।

चारों ओर निर्जनता.........मण्डप के नीचे चिरन्तन प्रकृति-पुरुष के प्रतिरूप किशोरी-किशोर।

तरुणी वनबाला को सामने पाकर विमल की वासना उत्तेजित हो गयी।......तरुणी ने उस बालमदन के उद्धत उद्दीप्त रूप को क्षणभर ललचाई आँखों से देखा, फिर लज्जा से घुमा कर देखी अनदेखी कर गयी।.........

यों ही एक दिन राह में उस तरुणी से फिर भेंट हो गयी। वह अपनी सहेलियों के साथ थी। उस दिन की घटना को याद कर अकेला विमल सहम गया। दूसरे क्षण उसका डर दूर हो गया। तरुणी उस दिन तो कुछ बोल नहीं सकी थी। आज खिलखिला कर सहेलियों से उसने कहा—यह लड़का बड़ा वैसा है!.........

'कैसा है जी!'—तरुणी को चिकोटी काट कर सहेलियाँ भी ही ही ही ही हँस पड़ीं।

—०—

: १० :

गँवई-गाँव का गोबरगणेश विमल नगर में आकर प्रवृत्तियों की ओर उन्मुख होता जा रहा था। वह भी संसार में संसरण करना चाहता था, लेकिन मार्ग नहीं मिल रहा था। संसार यदि नदी, तालाब और समुद्र की तरह आर्द्र होता तो उसका सजल कोमल हृदय ऊब-डूब कर भी उसमें सन्तरण कर लेता। किन्तु यह तो चट्टान की तरह कठोर, पहाड़ की तरह दुर्गम, दुर्ग की तरह दुर्भेद्य था। अपने सुकुमार पगों से कैसे इस पर अभियान करे! जीवन-यात्रा उसे एक जटिल समस्या जान पड़ती। किन्तु चेतन के लिए उसका जड़ बन्धन (शरीर) भी तो एक कठिन समस्या ही है। हाँ, कैशोर्य्य का स्वस्थ शरीर अभी उतना दुरूह नहीं हो गया था, इसीलिए जिस सहज स्वभाव से वह साँस लेता था, उसी सहज भाव से जीना चाहता था। किन्तु जिन लोगों ने अपने तामसिक स्वभाव से शरीर को पैशाचिक बना लिया था उन्होंने संसार को भी भयानक बना दिया था।

नगरों के ये छोटे-बड़े मकान, ये बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएँ, दुकानों से लेकर ये कोठियाँ और हवेलियाँ, सब कृपण के मन की तरह उसके लिए अपना-अपना द्वार बन्द किए हुए थीं। कैसे वह संसार में प्रवेश करे, कैसे वह भाग्य का द्वार खोले ! कहाँ है इसकी ताली-कुञ्जी ! !

संसार का द्वार खोलने के लिए स्वार्थों का दाव-पेंच चाहिये। युग कहता आया है—जीने के लिए या तो कमाई करो, या चतुराई करो, या लड़ाई करो। कमाई करने वाले चूसे जाते हैं, चतुराई और लड़ाई करने वाले मोटे हो जाते हैं।

क्या मिलता है इस कमाई, चतुराई और लड़ाई से?—सिक्का!

सिक्का क्या?—विमल अन्न को पहिचानता था, सौन्दर्य्य को पहिचानता था, अपनी वासना को पहिचानता था, किन्तु सिक्के को अभी तक पहिचान नहीं सका था। उसे क्या मालूम कि सिक्के से ही शरीर का भरण-पोषण और जीवन का उपभोग होता है।

सिक्का—जड़ धातुओं का निर्जीव टुकड़ा! अन्न-जल, कन्द-मूल फल-फूल और दूध की तरह इसे खाया-पीया और सूँघा नहीं जा सकता, फिर कैसे सिक्के में इतनी शक्ति आ जाती है कि वह मनुष्य को सजीव कर देता है? अरे, सिक्के के पीछे कानून की, फौज की, अदालत की ताकत है। आदिम बर्बर युग की बर्बरता का ही सिक्के में मशीनी रूपान्तर हो गया है। जिसके पास सिक्का नहीं, उसका कहीं कोई सिप्पा नहीं बैठता।

सिक्के को विमल ने बचपन में देखा था, लेकिन उसे उसकी सत्ता-महत्ता मालूम नहीं थी। अपनी आवश्यकताओं से विवश होकर अब वह भी सिक्के के सम्पर्क में आ गया। कैसे?—

बचपन में देहाती मदरसे में जमीन पर उँगलियों से वह वर्ण-माला लिखने का अभ्यास करता था। इसके बाद कलम से कागज पर खुशखत लिखने लगा। सुन्दर सुडौल अक्षर लिखने का उसे शौक था। यह उसका कलानुराग था, शिल्प-प्रेम था, सौंदर्य्य-संस्कार था।

छापे के अक्षरों में छपी उसे अपनी देहाती किताबें भी किसी के निपुण हाथों की खुशखत सी ही जान पड़ती थीं। तब वह यह नहीं जानता था कि दुनिया में छापाखाना भी होता है। नगर में आने पर वह छापेखाने से वाकिफ हो गया। सोचता, क्या कभी उसका लिखा भी छापेखाने में छप सकेगा!

व्याख्यान तो वह सुनता ही था, अब अखबार भी पढ़ने लगा। अखबार में कितने लोगों का नाम छपते देख कर उसे अपना भी नाम छपाने का हौसला हुआ। साक्षर तो था ही, चिट्ठी-पत्री की तरह शहर का हाल-चाल अखबार में लिखने लगा। यह लो, उसका भी नाम छप गया। उस दिन वह कितना खुश हुआ था। उसमें आत्मविश्वास आ गया, उसका उत्साह बढ़ गया।

कलम के द्वारा ही उसका सम्बन्ध प्रेस से हो गया, प्रेस के द्वारा उसका सम्बन्ध सिक्के की दुनिया से हो गया। चेतन शरीर से, शरीर मशीन से बँध गया। क्या सचमुच ?

प्रेस के द्वारा उसने आधुनिक युग (यन्त्र-युग) में प्रवेश किया था किन्तु वह आधुनिक युग का चलता-पुर्जा नहीं था। सदा का ढीलाढाला ढिलमिल आदमी भला किस मशीनरी में फिट हो सकता था ?

स्कूल में बँध कर वह पढ़ नहीं सका, ग्रामीण होते हुए भी चर्खा-कर्घा चला नहीं सका, किसी आफिस में जम कर काम नहीं कर सका। कुछ दिन काम करता, फिर छोड़ देता। कभी घी घना, कभी गुड़-चना कभी वह भी मना।...

यदि वह पुराने जमाने में पैदा हुआ होता तो क्या उस समय भी ऐसा ही अन्यमनस्क होता ?

पुराने जमाने में उसे जीने के लिए लाले नहीं पड़ जाते; क्योंकि सिक्का ही समाज नहीं बन गया था और न सबका प्रयास टकसाली ही हो गया था। सत्ताओं से शासित होते हुए भी समाज अपने निर्म्माण में स्वतन्त्र था। उसका दृष्टिकोण जीवन्त था, इसीलिए मनुष्य से लेकर पशुपक्षियों तक से उसका सम्बन्ध हार्दिक था। तृण-तृण कण-कण को वह प्यार करता था, इसीलिए कंकड़-कंकड़ में शंकर को देखता था। प्रकृति से उसका तादात्म्य था। जिस प्रकृति से उसे जीवन मिलता था, उस प्रकृति से जीवन का सौन्दर्य्य और सौहार्द भी मिलता था। प्रकृति के प्रसन्न वरदान से ही कविता, कला और संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ था।

विमल यदि उस नैसर्गिक युग में जन्म लेता तो अकाल-सुकाल में भी आज के कंगालों की तरह कङ्काल मात्र नहीं रह जाता। तन-मन-मस्तिष्क से सुपुष्ट होकर किसी भी तरह का श्रम सुगमता से कर लेता। बन्धनों से ऊबता नहीं, शरीर की तरह उन्हें भी साध कर कर्म्मठ हो जाता।

पुराने जमाने में विमल को अपने लिए कर्त्तव्यक्षेत्र भी नहीं खोजना पड़ता। वर्णतः वह ब्राह्मणकुमार है, उसका कर्त्तव्यक्षेत्र सुनिश्चित था। क्या है ब्राह्मण ?—क्या वह आधुनिक युग का बुद्धिजीवी था ? ना, वह मनुष्य के अन्तर्जगत का उद्बोधक था, समाज को शुद्ध-बुद्ध-प्रबुद्ध करता था, आज के बुद्धिजीवियों की तरह बौद्धिक व्यवसाय नहीं करता था।

आधुनिक युग ने विमल को तन-मन-मस्तिष्क, कुछ भी नहीं दिया; क्योंकि वह व्यवसायी नहीं था। बहुत पहले बरफ के कारखाने मे उसने दो-चार दिन काम किया था। बड़ी सिफारिश से काम मिला था। क्या काम था। लोगों को बरफ तौल कर देना और उसका हिसाब रखना। यह पाठशाला का हिसाब नहीं था, दुनिया भर के छक्के-पंजे से सामना करना था। अपने दिमाग को लोहे-पत्थर का वजन बना कर सब के स्वार्थों को तौलना था। क्या इसी के लिए उसका जन्म हुआ था ! दुनिदारी के सभी काम उसे ऐसे ही अड़बड़-सड़बड़-गड़बड़ जान पड़ते थे, इसीलिए उनमें उसका मन नहीं लग सका।

समय ने उसकी आयु बढ़ा दी थी, किन्तु तन-मन-मस्तिष्क बच्चों की तरह निर्बल ही रह गया। इसीलिये शरीर से वह न तो आधुनिक युग का श्रमजीवी हो सका, न मस्तिष्क से बुद्धिजीवी। नये-पुराने किसी भी युग का सुदृढ़ सामाजिक अस्तित्व उसे नहीं मिल सका। वह वर्ग-शून्य तो था ही, युग-शून्य भी हो गया।

क्या श्रमजीवी और बुद्धिजीवी होना ही जीवन के लिए अनिवार्य्य है ? जिस शैशव के लिए लोग वयस्क हो जाने पर भी

तरसते हैं, क्या उस शैशव की कोई अपनी सार्थकता नहीं है! दुनिया ने जिसे खो दिया था, विमल ने उस शैशव को कभी खोया नहीं। शोषण के अभिशाप में भी वही तो उसे वरदान मिला था।

श्रमजीवी नहीं, बुद्धिजीवी नहीं; शैशव ने विमल को भावजीवी कवि बना दिया। अरे, कवि होकर वह कैसे जी सकेगा! दुनिया क्या उसी की तरह हलकी-फुलकी है!

: ११ :

कहने को तो विमल रोजी के लिए एक शहर से दूसरे शहर में घूमता था, लेकिन उसका घूमना भ्रमण के लिए था। दुनिया सब जगह एक ही जैसी है, यह उसे मालूम नहीं था। बाहर से संसार बड़ा सुहावना जान पड़ता था। बाजे की आवाज और खिलौनों की रंगीनी से आकर्षित होने वाला बालक समझता है वे भीतर से भी ऐसे ही आकर्षक हैं। घुमक्कड़ विमल बच्चों की तरह ही संसार को देखता था, नयी आँखों को सब जगह नवीनता ही जान पड़ती थी यदि वह संसार के भीतर भी झाँक कर देख सकता! तब तो बचपन में ही बालिग हो जाता। वह बाहर-भीतर एक था, इसलिए संसार भी उसे अपने ही जैसा दिखाई देता था।

पैर घूमता है, पेट सुस्थिरता चाहता है। विमल संसार को अच्छी तरह देख भी नहीं सका था, उसका कुतूहल अभी शान्त नहीं हुआ था कि उसे पेट के लिए कहीं जम जाना पड़ा।

योग्यता नहीं, अनुभव नहीं, किस बूते से वह पेट भरे। लेकिन व्यवहार की दुनिया से अनभिज्ञ होते हुए भी उसमें अपने कुछ स्वाभाविक गुण थे—भाव, कला, संस्कृति, अध्यात्म। खोटी धातुओं पर सोने का मुलम्मा चढ़ाने के लिए ढोंगी दुनिया में इनकी भी माँग है। अतएव विमल जिन जन्मजात संस्कारों से भीतर से

जीवन्त था, उन्हीं संस्कारों को लेकर वह बाहर भी जीवन जुगोने लगा।

गङ्गातट पर भूधराकार खड़ी जिन अट्टालिकाओं को देख कर विमल अवाक् हो जाता था उन्हीं में से एक में उसे भी आश्रय मिल गया। वह महल पुराने जमाने के वैभव का बाहरी ढाँचा मात्र था, भीतर उसी तरह अभावग्रस्त था जैसे बाहर विमल। भाग्य का परिहास—बालविहग को आश्रय मिला भी तो ठूँठ पर! घर के दरबों में कपोत की तरह, निष्प्राण गृह में प्राणवायु की तरह, विमल उस प्रासाद में रहता था। वहाँ का विषएण वातावरण अपनी नीरसता से उसकी सजीवता का शोषण करने लगा।......

सबके अभावों की अपनी-अपनी सीमाएँ हैं। विमल का जो अभाव था वह उस प्रासाद का अभाव नहीं था। घास-फूस के छप्पर और चूने-गारे के महल! हैं तो दोनों ही घरौंदे, लेकिन उनके अभाव-अभियोग अलग-अलग हैं। अभाव बुरा नहीं, वही तो मनुष्य को मनुष्य से मिलाता है। जहाँ यह सम्मिलन नहीं, सहयोग नहीं, वहीं अभाव सामाजिक वैषम्य बन जाता है।

पुराने जमाने के वैभव के उस अभावग्रस्त श्रीमान और क्षुधाग्रस्त विमल के जीवन में कोई साम्य नहीं था। दोनों में अहङ्कार और करुणा का अन्तर था। लेकिन जैसे अपनी टूटी-फूटी परिस्थितियों में विमल का हृदय कलात्मक था वैसे ही अपनी नागरिक विपन्नता में वे महाशय कला के जौहरी थे। विमल तो उन्हें भीतर से भी परख सकता था, लेकिन वे उसे बाहर से ही निरख सकते थे। कभी-कभी उनके नाखून को देख कर अन्दाजा लगाते थे कि इसमें अभी कितना खून बचा है! उन्हें क्या मालूम कि मोती की उज्ज्वलता में उसके प्राणों की कितनी पीड़ा रिस-रिस कर सजल द्युति बन गयी है!......

एक जगह जम जाने पर विमल को रूप-रंग-माया का संसार गृहस्थों की तरह ही शोभा-शृङ्गार के लिए उकसाने लगा खादी

की लुंगी पहननेवाला वह बालयोगी अब तरुण रसभोगी हो चला।

खादी तो वह अब भी पहनता था, क्योंकि नगर के चाकचिक्य में आत्मविस्मृत नहीं हो गया था। लेकिन खादी जिस प्रकृति का मानवीय परिधान था, उस प्रकृति की इन्द्रधनुषी शोभा से अछूति नहीं रह सकी। विमल की सादगी में रंगीनी आ गयी। सम्भव है, उसे यह रंगीनी आकाश से नहीं, पृथ्वी से ही मिली हो, क्योंकि बचपन में खेतों की रंग-बिरंगी शोभा देख कर वह मुग्ध हो उठता था।

शैशव का दिगम्बर किशोरावस्था में श्वेताम्बर हो गया था, अब क्या तारुण्य ने उसे पीताम्बर बना दिया !.....

कला के पारखी महोदय प्रौढ़ावस्था को पार कर रहे थे। कभी वे भी तरुण थे। उसी समय काव्य का, कला का अनुराग उन्होंने पाया था। (यौवन में एक बार सभी कवि और प्रेमी हो जाते हैं)।—युवावस्था में उन्होंने भावना का जो सौरभ काव्य में फैलाया था उसी से आकृष्ट होकर भावुक विमल उनके सम्पर्क में आ गया था। अब प्रौढ़ावस्था में उनका वह भाव-स्वभाव नहीं रहा। यद्यपि रईसी का लड़कपन अब भी उनमें था तथापि रुचि में वय की परिपक्वता आ गयी थी। उस परिपक्वता का प्रभाव विमल के मन पर पड़ा। इसीलिए उसकी रंगीनी में चटकीला-भड़कीलापन नहीं आ सका, खादी की गम्भीरता बनी रही। ब्लाटिंग पेपर की तरह सोख कर खादी ने सब रंगों को गम्भीर सौन्दर्य दे दिया। यह तो अच्छा ही हुआ, किन्तु उन महोदय की प्रौढ़ावस्था का प्रभाव विमल के कृश शरीर पर भी पड़ने लगा।......

उनकी जठराग्नि मन्द हो गयी थी। दो बजे खाते थे और खाना पचाने के लिए दो घंटे सोते थे। विमल की अभी नई-नई भूख-प्यास थी। सबेरे ही मगर की तरह इतनी भूख लगती थी कि लोहा-कंकड़-पत्थर सबको पचा सकता था। लेकिन वे

महाशय अपने सुख-दुख का तो अनुभव करते थे, अपने से बाहर किसी के लिए सहानुभूति नहीं रखते थे। कला क्या ऐसी ही संवेदनशून्य होती है !

सबेरे से भूखा विमल एक ओर उनकी रुचि से रुचि मिला कर उन्हें हार्दिक सहयोग देता था, दूसरी ओर भूख-प्यास से उसका शरीर बेहाल हो जाता था। रंगीन कलेवर के भीतर वह खँड़हर होता जाता था।

वहाँ की दिनचर्य्या में विमल की स्वाभाविक भूख-प्यास क्षीण हो गयी। कभी बीमार न पड़ने वाला विमल अब आये दिन बीमार पड़ने लगा। भूख-प्यास के साथ-साथ उसकी नींद भी गायब होने लगी। उसके सुन्दर केश कमजोरी से झड़ने लगे।

आप कहेंगे, पहिले भी उसे कौन सी ऐसी नियामत मिलती थी कि अब उसका यह हाल हो गया ! जिसे एक मुट्ठी अन्न का ठिकाना नहीं उसे देर-अबेर पेट भरने को तो मिल जाता था।

ठीक है, पहिले तो वह एकदम लाचार था, बे-चारा था। ऐसे हो तो जंगल के जानवर भी होते हैं जिनकी कोई निश्चित रोजी नहीं होती। लेकिन अनिश्चत जीविका में भी उनमें जो एक स्वाभाविक स्फूर्त्ति और ताजगी होती है वह क्या किसी पालतू पशु में हो सकती है !

जीने के लिए भरण-पोषण ही नहीं, निर्द्वन्द्वता, स्वच्छन्दता और धरती की विस्तीर्णता भी चाहिये।

उस दरबार में विमल की इच्छा-अनिच्छा कुछ नहीं रह गयी। उसका जीवन एक समस्या-पूर्ति हो गया—उन्हीं के समय से काम करना, उन्हीं के समय से खाना, उन्हीं के समय से सोना ! मानों वह उनकी परछाहीं हो ! विमल जब अपने स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए लालायित हो उठता तब दासता के बन्धन में और भी जकड़ दिया जाता।

ओह, नागरिक कृत्रिमता के उस वातावरण में कृत्रिम रहन-सहन विमल के नैसर्गिक जीवन को संक्रामक रोग की तरह ग्रसती जा रही थी। उसे देख कर कौन कह सकता था कि कभी का स्वच्छन्द यह वही वनविहङ्गम है !

--*--

: १२ :

पहले जब विमल निराधार इधर-उधर घूमता था तब उसका कोई संगी नहीं था, समाज नहीं था। इसीलिए दरबारी वातावरण में सिमट कर अपने सूनेपन को भुला रहा था। लेकिन जैसे उसके भीतर अन्तर्जगत का विस्तार था वैसे ही बाहर कला के कृत्रिम जगत का भी विस्तार था। विमल उस दरबार में रहते-रहते इस कृत्रिम जगत के सम्पर्क में भी आ गया। कला के जौहरी महाशय के मित्रों के समाज में भी भ्रमण करने लगा।

इस समाज में कवि थे, गायक थे, चित्रकार थे, उपन्यासकार थे और न जाने कैसे-कैसे साहित्यकार थे! जिस भवसागर के अन्धकार में उसे अपने सिवा और कुछ नहीं दिखाई देता था वहाँ इतने जीव-जन्तु कहाँ से प्रकट हो गये! गाँव से नगर में आते ही क्यों नहीं इनसे भी परिचय हो गया! तब विमल को क्या मालूम कि मनुष्य होने के नाते ही सबसे परिचय नहीं हो जाता। जहाँ समाज का आधार मानवता नहीं, वहाँ परिचय का क्षेत्र भी स्वार्थ की श्रेणियों में विभक्त है। यदि परिचय हो भी जाता तो क्या ये उन नागरिकों से कोई भिन्न और विशेष मनुष्य थे जिनकी ओर वह गाँव से नगर में आने पर सहृदयता की आशा से आकृष्ट हो जाता

था। विमल अब भी भोला था। संसार का शोषक, भक्षक और तक्षक रूप उसके सामने अभी स्पष्ट नहीं हुआ था।

एक बात बहुत साफ थी। विमल भावुक ही नहीं, स्वयं भाव था; कवि ही नहीं, स्वयं काव्य था; कलाकार ही नहीं, स्वयं कला था; साहित्यकार ही नहीं, स्वयं साहित्य था। जैसे फूल अपने सौन्दर्य्य का स्रष्टा भी है और स्वयं ही सृष्टि भी है। लेकिन जिन कलाकारों और साहित्यकारों से विमल का परिचय हुआ उनके लिए साहित्य और कला भी फुरसत का एक फैशन थी, स्पन्दन, कम्पन, धड़कन और जीवन नहीं। लोककला और नागरकला में जो अन्तर है वही अन्तर विमल और उसके परिचित कलाकारों में भी था। दुनिया की रीति देखिये, जो स्वयं उपहास के पात्र थे वे विमल का उपहास करते थे। उसे अपने मनोरञ्जन का पात्र बना कर ही अपने समाज में ले सकते थे।

नगर के एक अन्य प्रतिष्ठित साहित्यकार से विमल का परिचय हो गया। साहित्य में और समाज में भी उनका बड़ा नाम-धाम था। पुराने रईस थे। मुँहफट ऐसे थे कि कहते, मेरे घराने में किसी को कोई व्यसन था, किसी को कोई व्यसन। और कुछ नहीं तो साहित्य ही मेरा व्यसन हो गया। पान के रँगे उनके होठों पर हँसी खेलती रहती थी, मिलनसारी ऐसी कि जैसे सबसे मिलने के लिए ही वे बेताब हों, चुलबुले ऐसे कि बचपन और जवानी दोनों के कान काटते थे। हाथ की छड़ी की तरह ही उन्होंने विमल को भी अपनी चहलकदमी का साथी बना लिया था।

फुरसत के समय वे अपने बीते दिनों की रंगीन रईसी के किस्से सुनाया करते थे। मानो उन्हीं दिनों की नुमाइश दिखलाने के लिए कभी-कभी उनके बगीचे में बहुत बड़ी दावत होती थी। दावत क्या, पूरी बारात, जुटती थी। रसिक-अरसिक, रईस-सईस, हाली-मवाली, उनके सभी छोटे-बड़े परिचितों का मेला लगता था। भंग की तरङ्ग और नर्त्तकी के रास-रङ्ग से मजलिस में समा बँध जाता था।

उस दिन विमल ने भी जिन्दगी में पहली बार भंग छानी। नववय की उमंग में भंग की तरङ्ग ऐसी ही थी जैसे 'प्रलय-पयोनिधि में लहरें उठने लगीं।' महफिल में उसे भी मजा मिलने लगा। गान-वाद्य-नृत्य से उसका हृदय खिलने-थिरकने लगा। लेकिन यह क्या, उस अकिञ्चन का सुख उस रईस से देखा नहीं गया। कहा—चलो तुम्हें खिला-पिला कर सुला दें, तुम्हारी तबियत ठीक नहीं है।

विमल की तबियत तो ठीक थी, फिर यह कैसा चकमा! असल में वह रईस सबको अपना सौभाग्य नहीं बाँटना चाहता था। वह तो उन्हीं के सामने प्रदर्शन करना चाहता था जिनसे चार जनों में उसका पुराना रंग जम जाय।

यह कैसी दरियादिली है कि जब सब लोग मौज मना रहे थे तब विमल को तनहाई दे दी गई। समाज में युग-युग से क्या उसकी स्थिति ऐसी ही चली आ रही थी!

विमल रात भर जागता ही रह गया। नींद तो आई नहीं, भोजन भी नहीं आया। आँखों-आँखों में ही सबेरा हो गया

दूसरे दिन रईस महाशय बड़ी खुशदिली से खुद ही अपनी दावत के राग-रंग का वर्णन लोगों को बड़े रस से सुना रहे थे। विमल की ओर देख कर उन्होंने कहा—और इसे तो मैंने खिला-पिला कर आराम से लिटा दिया।.......कहो, खाना कैसा रहा!
विमल ने मारे लिहाज से सिर नीचा कर लिया। मुँह पर ताला लग गया। वह इतना भी नहीं कह सका कि मैं भूखा ही रह गया।
—ऐसा ही सङ्कोची था विमल!..........

वह न तो मनुष्यों का समाज था, न साहित्य का समाज था, न कला का समाज था। वह उन बने-बिगड़े रईसों का समाज था जो साहित्य और कला के क्षेत्र में आ गये थे। जो रईस नहीं थे, वे भी रईसी के लिए ही होड़ कर रहे थे। कैसे-कैसे लोग सरस्वती के मन्दिर में आ गये थे!

एक दिन विमल उन रईस साहित्यकार के साथ घूमते हुए उनके किसी स्नेहपात्र लक्ष्मी पुत्र के यहाँ गया। वहाँ रंगीली-रसीली कहानियों और उपन्यासों के एक कलावन्त नवाबी ठाट-बाट से ठहरे हुए थे। खानदानी रईस न होते हुए भी अपनी कलम के जोर से (कहिये किस्मत के जोर से) रईसों को अपना तलवा चटाते थे। कभी निर्धन थे, इसलिए अपने अतीत की निर्धनता का बदला चुकाते थे।

विमल जब वहाँ पहुँचा तब वे अपने-आप में समाधिस्थ थे, निश्चल थे। ऐसा ज्ञान पड़ता था कि भीतर ही भीतर किसी जोरदार चीज ने उनके शरीर को बाँध दिया है, जैसे बजड़े को लंगर बाँध देता है। केवल उनकी पलकें ही पाल की तरह कभी खुलती थीं, कभी मुँदती थीं। न जाने किस हलकोर से, न जाने हवा के किस रुख से उनका नाटा गठीला भारी शरीर रह-रह कर जब-तब हिल-डुल जाता था।

उनके अगल-बगल एक ओर बोतल था, दूसरी ओर तश्तरी में बचा-खुचा आलू कचालू था। विमल समझ नहीं सका कि यह सब क्या है! वह अचरज में डूबा हुआ था। कि साथ आये रईस साहित्यकार ने पुराने खिलाड़ी की तरह हँस कर कहा—यह देखो, थोड़ा-सा आलू बचा है, इसे खाकर चाहो तो बची हुई शराब तुम भी पी सकते हो।

शराब!—यह कौन-सी मजेदार चीज है!!—विमल विस्मय से, कुतूहल से, हवस से ज्यों ही ललक पड़ा त्यों ही वह समाधिस्थ कलाकार क्रोध से विचलित हो उठा। बड़े रोब से सिर हिलाकर उसने विमल को बरज दिया। क्यों? क्या इसलिए कि वह अपने मौज-मजे से वञ्चित रखना चाहता था, या इसलिए कि लड़के को बिगड़ने नहीं देना चाहता था?

लेकिन दुनिया में किसी को किसी के बनने-बिगड़ने की क्या परवाह! उस मण्डली में सभी तो विमल से बुद्धि में, आयु में

सम्पदा में बड़े थे। अरे, कोई तो उसे बतला देता—शराब क्या बला है, उसकी क्या तासीर है, साँप के बिल में हाथ डालने का क्या मन्त्र-तन्त्र है!

·······विमल भंग की तरङ्ग से परिचित हो ही चुका था, अब शराब की लहर-बहर का भी अनुभव करने के लिए उत्सुक हो उठा। उसे क्या मालूम कि निर्धन होते हुए भी उसके जीवन में अभी जो एक स्वाभाविक उल्लास शेष है, वह इन रँगीले लोगों के जीवन में समाप्त हो चुका है। इनका मौज-मजा नकली है।

जीवन-पथ में भूलते-भटकते हुए विमल जैसे अपने अनुभवों से स्वयं राह बना रहा था, वैसे ही मौज-मजे की दुनिया में भी वह खुद अटक-भटक कर राह पा जाना चाहता था। लेकिन यह तो दुनिया ही दूसरी थी।...

मनमौजियों का कहना है कि गँवारों को विजया नहीं देनी चाहिये। विमल तो अभी नगर की दुनिया में भी गँवार था और नशे की दुनिया में भी गँवार था। ओहो हो, इस गँवार की अक्लमन्दी तो देखिये—एक दिन न जाने कहाँ से चुपके से देसी ठर्रा लाकर गट-गट-गट-गट पी गया।

: १३ :

जीवन के आरम्भ में विमल राजनीतिक व्यक्तियों के सम्पर्क में आया था। गँवई-गाँव के सहज हृदय के लिए वह कैसा विकट संयोग था!...उनसे विमल दुनिया का बहुत कुछ छक्का पंजा सीख सकता था, जिन्दगी की राह में अपने लिए भी सब सुविधाएँ जुटा सकता था। किन्तु अनुभव-शून्य होते हुए भी उसकी सरलता ही उसे कुटिल जगत की रीति नीति से अछूता बनाये रही। उस पर राजनीतिक-कूटनीति का प्रभाव नहीं पड़ सका।

प्रत्येक प्राणी की अपनी स्वतन्त्र गतिविधि होती है, वातावरण के भीतर वह अपने ही संस्कारों के संसार में संसरण करता रहता है। इसीलिए स्वभाव से भावुक विमल साहित्य और कला की ओर ही आकर्षित हो गया।

चाहे पेट के लिए हो, चाहे कला के लिए हो, प्राणी जब आत्मसमर्पण कर देता है तब बन्दी हो जाता है। चारे के लोभ से पक्षी और सङ्गीत के लोभ से मृग मायाजाल में फँस जाता है। विमल भी पेट और कला दोनों के लिए परवश हो गया था। क्या सचमुच? क्या उस वनवासी का आत्मबल समाप्त हो गया था?

जीवन के आरम्भ में वह जैसे एक असन्तोष और अस्वीकृति लेकर चल रहा था वैसे ही साहित्य और कला के क्षेत्र में भी अपने

स्वभाव का परिचय दे रहा था। किसी का रंग अपने ऊपर चढ़ने नहीं देता था। स्वयं उसका जीवन तो अभी अनगढ़ और ऊबड़-खाबड़ था, लेकिन उसके भीतर बहुत परिष्कृत और सुरुचिपूर्ण कोई भावजगत ओझल था। वह क्या है, कैसा है, यह न समझ पाने पर भी अपनी अस्वीकृति से ही उसका अस्पष्ट आभास देता था। जन्मजात प्रतिभा की तरह उसमें जन्मजात सुरुचि थी।

दरबारी वातावरण के बन्धनों में न तो उसके पास इतना साधन था और न इतना अवकाश ही कि वह एक नगर से दूसरे नगर में जा सके, तीर्थयात्रा की तरह साहित्ययात्रा कर सके, अपने अभीष्ट कलाकार को खोज सके, पा सके। फिर भी वह बन्दी पशु की तरह उदरम्भरि ही नहीं हो गया था। उसकी चेतना सजग थी। पिंजड़े की बुलबुल जैसे दूर से आती हवा में चमन की खुशबू को पहिचान लेती है वैसे ही उसकी बोधेन्द्रियाँ भी उस सीमित वातावरण से भिन्न जगत की सुषमा-मधुरिमा और गन्धिमा का मर्म्मस्पर्श कर लेती थीं। रोमाञ्चित होकर वह भी सोचने लगता—

न जाने सौरभ के मिस मौन
सँदेसा मुझे भेजता कौन!

उसे उस दिगन्त-मुखरित विस्तृत सृष्टि की याद आ जाती, जहाँ—

विहग-कुल की कलकण्ठ-हिलोर
मिला देतीं भू-नभ के छोर!

कभी-कभी बन्धन को छुड़ा कर वह भ्रमण के लिए चल देता। कला के तीर्थलोक में भ्रमण करते हुए उसका परिचय एक ऐसे कलाकार से हो गया जो सुरुचि और सौन्दर्य्य का साकार स्वरूप था। नेति-नेति कह कर मुमुक्षु जैसे तत्त्वमसि का अस्तित्त्व पा जाते हैं वैसे ही विमल भी अपनी अस्वीकृति और असन्तोष की सीमा पार कर उस कलाकार में कला का कमनीय व्यक्तित्त्व पा गया।

उसका नाम था इन्दुमोहन। जैसा नाम वैसा ही आकर्षण। सुन्दर प्रसन्न मुख, हृदय ही मानों सुधाकर हो गया था। कोमल उज्ज्वल, स्निग्ध सजल, उस व्यक्तित्व को देखकर ही विमल के प्राण जुड़ा जाते थे। उसके मौन सम्पर्क से ही शान्ति मिल जाती थी।

विमल अब तक जिन कलाकारों से परिचित हुआ था, वे सब कला के रँगरेज थे। किन्तु इन्दुमोहन था प्रकृति का प्रेमल चित्रकार। जिस शिल्पी ने प्रकृति का निर्माण किया था उसी का दिव्य प्रतिनिधि था इन्दुमोहन। कैसी थी उसकी तूलिका, कैसी थी उसकी कला, कैसी थी भावव्यञ्जना! उसके चित्रों में सारी सृष्टि स्वर्गीय हो गयी थी। सब कुछ हँसता-खेलता-खिलता-गुनगुनाता हुआ जान पड़ता था। सौन्दर्य्य, संगीत और हृदयोल्लास का उन चित्रों में सरस संगम था, भावों का भव्य समारोह था। विमल को यह सृष्टि चिरपरिचित जान पड़ी। गाँव की अमराइयों, कछारों, खेतों में उसने जिस सृष्टि का दरस-परस पाया था वही मानों इन्दुमोहन के चित्रों में जीवन्त हो गयी थी।

नगर में आकर विमल जिस निसर्गलोक को पीछे छोड़ आया था वह फिर उसके सामने मूर्त्तिमन्त हो गया। तारुण्य के अञ्चल में फिर उसका बाल्यजगत लौट आया।

विमल ने पृथ्वी पर मनुज कोटि में जन्म लिया था। था तो वह भी सारी सृष्टि का ही एक अंग, किन्तु मनुष्य और प्रकृति के बीच जो सांसारिक पार्थक्य है उसके कारण उसे सृष्टि के सर्वाङ्ग का अनुभव नहीं हो सका था। बाद में आध्यात्मिक दृष्टि से उसे जिस विश्वात्मा का बोध हो गया था, वही बोध अब उसे कलात्मक दृष्टि से भी हो गया। वह अनुभव करने लगा कि मनुष्य और प्रकृति में अन्तर नहीं, मनुष्य भी प्रकृति की ही एक सृष्टि है। समाज केवल मनुष्यों में ही सीमित नहीं, वह प्रकृति के खग-पुष्प, नद-नदी-निर्झर समस्त सृष्टि में फैला हुआ है। इतनी बड़ी सामा-

जिकता का आभास पाकर विमल मनुष्यों की छोटी-सी सङ्कीर्ण सीमा में सङ्कुचित नहीं रह सका। खण्ड सृष्टि में वह मनुज शिशु था, अब अखण्ड सृष्टि में प्रकृति का शिशु हो गया। व्यक्ति अपनी समष्टि से जुड़ गया।

इन्दुमोहन ने अपने चित्रों में प्रकृति को उसके आरम्भिक रूप (बाल्यरूप) से ही क्रमशः मुकुलित-प्रस्फुटित किया था। मानों कण्व के तपोवन की नैसर्गिक आत्मा शकुन्तला ही उसकी कला बन गयी थी। विमल शकुन्तला की तरह ही तो अपनी जन्मभूमि से नगर में आ गया था। क्या वह उस आश्रम का वही मृगछौना नहीं था जिसे वह प्यार से पुचकार कर आँचल छुड़ा कर छोड़ आयी थी वैसी ही उसकी भी आत्मा थी, वैसी ही उसकी भी माया-ममता। इन्दुमोहन के चित्रों में फिर उसे अपना निसर्गलोक क्या मिल गया, मानों अपना खोया अतीत मिल गया।......

देहात में, बचपन में विमल प्रकृति से आत्मीयता का तो अनुभव करता था किन्तु मनुष्यों की भाषा में उसकी अभिव्यक्ति नहीं ग्रहण कर पाता था। अब इन्दुमोहन चित्रों से वह प्रकृति की अन्तरात्मा, उसकी भाषा, भाव, ध्वनि रूप-रङ्ग-सङ्गीत, इन सबकी सङ्गति और अन्विति पा गया, मानों चित्रकला से ही काव्यकला पा गया। उसकी कविताओं से साहित्य जगत झंकृत-चमत्कृत हो गया।......

विमल इन्दुमोहन से प्रायः मिलता रहता था। सच तो यह कि कला के क्षेत्र में वही उसका आराध्य था। लेकिन दोनों की सामाजिक परिस्थितियों में बड़ा अन्तर था, इसीलिए दोनों में व्यावहारिकी अन्तर भी था। विमल इस अन्तर को कारण समझ नहीं पाता था। आरम्भ में जिन साहित्यिकों के सम्पर्क में वह आया था उनक रंगरेलियों को देख कर सामाजिक विषमता का ठीक कारण (आर्थिक कारण) समझ गया था। किन्तु रुचि, स्वभाव, संस्कृति में इन्दुमोहन का व्यक्तित्व उन लोगों से सर्वथा भिन्न था, इसीलिए अपने साथ

उसके सामाजिक पार्थक्य का कारण विमल पकड़ नहीं पाता था। वह यही समझता था कि मुझमें ही कोई ऐसी कमी है जो उस प्रतिभाशाली कलाकार से एकाकार नहीं होने देती। अब तक विमल ने कभी किसी के सामने आत्महीनता का अनुभव नहीं किया था, अब वह आत्महीनता का अनुभव करने लगा।

तब विमल को क्या मालूम था कि इन्दुमोहन भी सम्पन्न वर्ग का ही शोभन विकास है। अपनी रूखी-सूखी, उखड़ी-पुखड़ी परिस्थितियों में भी जो विमल इन्दुमोहन के भावस्निग्ध व्यक्तित्व को समझ सकता था, हार्दिक स्नेह दे सकता था, वह विमल उसके जैसा लालन-पालन पाकर क्या स्वयं वही व्यक्तित्व नहीं हो जाता ! तब तो उपासक ही आराध्य हो जाता। लेकिन... ..

विमल और इन्दुमोहन में पृथ्वी और आकाश का अन्तर बना रहा। एक इन्दु था तो दूसरा ओसबिन्दु। हृदय से समीप होकर भी दृश्य-जगत में दोनों में दूरी बनी रही। विमल पृथ्वी पर रह कर ही पृथ्वी से निर्लिप्त था, इन्दुमोहन निर्लिप्त होते हुए भी पृथ्वी पर नहीं था। उसमें अगजग के प्रति सजग तटस्थता थी, अन्यमनस्कता थी। कभी-कभी जब वह विमल से हँस-बोल लेता तब उसकी अँधेरी दुनिया में कुछ देर के लिए चाँदनी छिटक जाती। इसके बाद फिर वही अन्धकार, वही प्रतिदिन का स्वार्थलिप्त तामसिक संसार !...

कुहू-कुहू—अरे, अन्धकार में यह कौन कुहुकिनी कुहुक उठी ! यह तो वेदना की सङ्गीतमयी आत्मा यमुना है। अपनी हूक से विधाता के अभिशाप (जीवन के अन्धकार) को चुनौती दे रही है ! इसके सन्तप्त कण्ठ में सीता, राधा और शकुन्तला का सामाजिक क्रन्दन है, नारी के विगलित हृदय का युग-प्लावन है। प्रकृति का यह भी एक दुखान्त चित्र है

......इन्दुमोहन के चित्रों में जो सौन्दर्य्य और उल्लास था, यमुना के सङ्गीत में वही मधुर विषाद बन गया था। सुख-दुख की तरह एक ही सृष्टि में रहते हुए भी दोनों एक दूसरे से कितने

भिन्नलोक में रहते थे। कवि विमल इन दोनों की भावनाओं को समझ सकता था, क्योंकि उसमें भावजगत का उल्लास भी था और अभाव-जगत का उच्छ्वास भी। अतएव वह दोनों के बीच उभया-लंकार की तरह समरस हो गया।.........

विमल को अबतक इनसे-उनसे-सबसे उपेक्षा ही मिली थी। लेकिन यह कैसी नयी बात! —यमुना विमल से सहानुभूति रखती थी!!

इन्दुमोहन अपने ही आनन्द में आत्मविभोर था। विमल उसके आनन्द में आत्मयोग दे सकता था, किन्तु वह उसकी वेदना से सहयोग नहीं कर सकता था। यमुना में मानवी संवेदना थी, इसी-लिए विमल को सहानुभूति देती थी।

विमल यमुना से जितनी सहानुभूति पाता था उससे अधिक स्वयं उसे सहानुभूति देता था। यह क्यों?—यमुना जब गाती थी तब उसके सङ्गीत में उसे एक और व्यथित कण्ठ सुनाई देता था। वह स्नेह-सजल कण्ठ वैष्णवी का था।

वैष्णवी!—ओह, कहाँ है वह करुणा की गोमुखी जाह्नवी!!

विमल उसके दर्शनों के लिए अधीर हो उठा।

—०—

: १४ :

उस दिन जीवन में पहिली बार जब विमल ने कुतूहलवश शराब पी तब उसकी नववय की इन्द्रियों में उमंग का ज्वार आ गया। सारी सृष्टि में मादकता छहर गयी। संसार का वास्तविक रूप छिप गया। सब रसरङ्गमय जान पड़ने लगा।......

यह क्या शराब की ही खूबी थी? नदी में पानी न हो तो उसमें लहरें कहाँ से उठेंगी! वहाँ तो रेगिस्तान की धूल ही उड़ेगी। विमल के तारुण्य में जो थोड़ा-सा तारल्य था उसे ही तो शराब ने प्रचण्ड प्रभञ्जन की तरह हिल्लोलित कर दिया था, रस के स्वाभाविक प्रवाह को ही अस्वाभाविक उत्तेजना से उद्वेलित और अतिरञ्जित कर दिया था। अपनी ही तरुणाई की मृदुल तरङ्गों को शराब की खूबी समझ कर वह उसे चाव से पीने लगा। फिर तो चस्का लग गया। ..मदिरा की मादकता में विमल अपने ही में ऊब-डूब जाता था। इसके बाद जब वास्तविकता की धरती पर आता तब उसका जीवन ज्यों का त्यों सूना का सूना ही रह जाता।

उस उगते हुए तरुण के लिए समाज में आनन्द ही क्या था! उसमें भी मधुर आकांक्षाएँ थीं—सौन्दर्य की, प्रेम की, कला की, जीवन की सभी सरस प्रवृत्तियों की। एक तो सद्यःप्रस्फुटित तारुण्य, तिस पर कवि का भावुक हृदय! भला, सृष्टि के आकर्षण

की ओर से वह आँखें कैसे मूँद सकता था ! लेकिन आकर्षित होकर भी वह क्या पा जाता—न कोई सङ्गिनी, न कोई सखा; न कोई गृहसुख, न कोई सामाजिक सौहार्द। विधाता ने उसे सुन्दर और सहृदय बना कर उसके जीवन को सूनेपन का यह कैसा निर्दय अभिशाप दे दिया। वह क्या कोई इस युग का निर्वासित यक्ष था !!

[एकान्त में वह प्रायः अपनी ही पंक्तियाँ गुनगुनाया करता—

अकेले ही रोओ तुम प्राण !
विजय में ही गाओ दुख-गान।
यहाँ बह कर दृगजल की धार
धरा में मिलती है निःसार,
न कोई स्नेह, न कोई प्यार,
न अपना बन्धु, न और उदार—
अहो पोंछे तब कौन, अधीर !
छलकते इन नयनों का नीर ?

× × ×

विजन में ही खोलो मुसकान
हँसो मत जग में दुर्बल प्रान !
तुम्हारा मुकुलित मुख भी आज
न दे सकता जग को आह्लाद,
तुम्हारे लघु सुख में भी हाय
छिपा है जग का चरम विषाद—
यहाँ हँस कर फिर किसको आह !
रिझाने की है सूनी चाह ?

यदि वह केवल चेतना मात्र होता, पञ्चभूतों से बँधा नहीं होता, तो एकान्त में ही आत्ममग्न रह जाता। लेकिन भूख-प्यास की तरह ही जीवन की अन्य आवश्यकताएँ भी उसे संसार की ओर खींचती थीं।

एक दिन जिस कुतूहल ने उसे शराब की ओर प्रेरित कर दिया था उसी कुतूहल ने वेश्याओं की ओर भी प्रेरित कर दिया। आप कहेंगे—छिः छिः, यह क्या ! वह किस पतन के पथ पर चला गया ! मैं कहूँगा--वह समाज की तलछट में आ गया। यहाँ की गन्दगी ऊपर की ही देन है।

सदा से ही तो पतन का पथ ऐसा ही चला आया है, सदा से ही लोग छिः छिः करते आये हैं, लेकिन अपने स्वार्थों की सङ्कीर्णता से स्वयं ही नैतिकता को दूषित भी करते आये हैं। परिणाम जब सामने आता है तब बोल उठते हैं—छिः छिः ! इस छिः छिः में भी उनकी गन्दगी की ही छींक है।

विमल की मूर्खता देखिये। झूठी नैतिकता से तो वह बँध नहीं सका, रोजी का जो जरा-सा सहारा थी उस दरबारी नौकरी को छोड़कर आर्थिक दासता से भी मुक्त हो गया। देहात से नगर में आने पर उसकी जो आरम्भिक स्थिति थी फिर उसी मौलिक स्थिति में पहुँच गया।—'पुनर्मूषको भवतु' !

इतने दिन के अनुभवों के लिए उसे कितना मूल्य चुकाना पड़ा —शरीर शिथिल हो गया, मस्तिष्क क्षीण हो गया। डगमगाते हुए वह फिर अपने ऊबड़-खाबड़ पथ पर चल पड़ा।

शरीर की पशुप्रवृत्तियों का भुक्तभोगी हो जाने पर भी उसकी निरीह चेतना अब भी निष्कलुष थी--झूठ नहीं, बेईमानी नहीं, लोभ नहीं, छलप्रपञ्च नहीं, स्वार्थों की कुटिलता नहीं। सांसारिक दृष्टि से अब भी वह अव्यावहारिक ही बना रह गया—

"नहीं एक भी ग्रन्थि पड़ी है
उसके सरल मृदुल उर में
उसका कैसा कर्म्मयोग है
वह चञ्चल है या अविचल ?"

—०—

: १५ :

रोटी और सेक्स में विमल की आवश्यकताएँ भी क्या स्थूल ही थीं? यदि वह इसी रूप में आवश्यकताओं की पूर्ति करता तो न भूखा रहता, न अतृप्त रहता। इतनी मोटी-सी जरूरत तो दुनिया के छोटे-मोटे तरीके से भी पूरी हो सकती है। लेकिन यही दुनियादारी तो वह नहीं जानता था, जानना भी नहीं चाहता था।

विमल की सनक देखिये—रोटी और सेक्स में भी वह कविता की सरसता और संस्कृति की सुषमा खोजने लगता है। कहता है—कविता, रसोई, और रति-लालसा, इन सब में रस की ही व्यञ्जना है। रस को लेकर जैसे कविता तुकबन्दी से भिन्न हो जाती है वैसे ही रसोई और रति-लालसा भी रोटी और सेक्स से भिन्न हो जाती है।

यह तो ठीक, लेकिन मुश्किल तो यह है कि उसे न तो कहीं अपने मन की रसोई मिलती है और न अपने मन की रसवन्ती ही मिलती है। वह चाहता क्या है? क्या पकवान और रोमांस से उसे मनोवाञ्छित रस मिल जायगा? नहीं, रोटी और सेक्स जिस स्वाभाविक सरसता के बिना फीका है उसके बिना पकवान और रोमांस भी नीरस हो सकता है। आखिर वह चाहता क्या है, उसी के मुंह से सुनिये—

भुइयाँ[1] खड़े[2] हर ह्वै चार
घर होय गिहथिन, गऊ दुधार
रहर की दाल, जड़हने क भात
गागल[3] निबुआ औ घिउ तात
खाँड़ दही जौ घर में होय
बाँके नैन परोसे जोय
कहैं घाघ तब सब ही झूठा
उहाँ छाँड़ि इहवैं बैकुंठा

कहिये, है न पूरा गँवार ! देश-काल का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सका—'सूरदास की काली कमरिया चढ़ै न दूजो रंग'। अब भी वह व्रज के युग में निवास करता है—वहाँ गोप हैं, गोपिकाएँ हैं, कृष्ण हैं, ग्वालबाल हैं। हल हैं, हलधर हैं, गाय हैं, गोरस है। सौन्दर्य है, संस्कृति है, स्नेह है, समाज है। घर-घर में उल्लास है। मोहन की मोहिनी छबि की झलक पा जाने के लिए व्रज का ग्वालिन गली-गली में पुकारती है—'दही दही !'—इस दाह में भी चाह की मिठास है। अभाव नहीं, भाव ही भाव है। लोग खेलते हैं, खिलते हैं, भूलते हैं, भटकते हैं, हिलमिल कर एककण्ठ एकहृदय हो जाते हैं।

......विमल तो चाहता है प्रकृति का वही स्वर्गलोक, लेकिन मिला है उसे यन्त्रणा का यन्त्रलोक—'चहै अमिय पर जुरै न छाछी'।

हृदय उसका कृष्ण के कलायुग का है, जीवन इस जीवन्मृत युग के मरघट के औघड़ शिव का है। विश्व की विषमता का विषपान करने के लिए ही क्या उसका जन्म हुआ है !.......

एक दिन कुतूहलवश उसने मदिरा पी ली थी (क्या यही इस युग का हलाहल है ?); अब जीवन की एकरस-नीरसता में अपने आपको विस्मृत कर देने के लिए प्रायः विषपान करने लगा—

१—खेत, २—गांव के पास, ३—रसदार ।

किस अमृत-लाभ के लिए बन्धु !
कर गये गरल-पर-गरल पान ?
हे तप्त-शप्त ! क्या मिला तुम्हें,
केवल विषाद का महादान ! !

कैसा विषाक्त है यह युग ! इस युग में सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् सब कुछ अभिशप्त हो गया है। आज कृष्ण के युग की व्रजाङ्गनाएँ भी अभिशप्ता हो गयी हैं। उस युग में जिन्हें कुलकलङ्किनी कहा जाता था वे ही क्या इस युग में वेश्याएँ हैं ? नहीं, वे रूप का व्यवसाय नहीं करती थीं। किन्तु कौन नारी शरीर का व्यवसाय करना पसन्द कर सकती है ! क्या उसे दुःख नहीं होता, दर्द नहीं होता, हृदय नहीं तड़पता ! उसकी क्या कोई अपनी इच्छा-अनिच्छा नहीं है जो सबको तन-मन बेंचती रहे !

नदी के भीतर जो हलचल होती है वह बाहर उतरा आती है। घरों के भीतर कलियों का, कुलकामिनियों का जो बलिदान होता है वही तो हाट-बाजार में दिखाई देता है। ओह, कला की कितनी कोमल कमनीय मुखाकृतियाँ—(जो आज भी अजन्ता और एलोरा के युग को प्रत्यक्ष कर सकती थीं)—अपात्रों द्वारा खण्डित विमण्डित कर दी गयीं। कौन समझ सकता है उनकी यन्त्रणा को, कौन समझ सकता है उनके नारकीय वातावरण को !

—०—

: १६ :

गङ्गातट पर श्रावणी का मेला लगा हुआ था। प्रकृति का पुजारी विमल यों तो बचपन से ही गंगा में नहाता आया है फिर आज तो मेला था, पर्व था। जिस गंगा की गोद में वह कभी शिशुक्रीड़ा करता था उस गंगा की सात्त्विकता ने उसे संस्कृति का श्रद्धालु बना दिया था। जिन मेलों ने कभी उसका मन बहलाया था उन्होंने ही उसे सामाजिक संस्कार भी दे दिया था। गृहस्थी जोड़ कर वह गृहस्थ नहीं बन सका था, लेकिन हृदय गृहस्थों का ही था। आर्थिक अव्यवस्था ने उसे मुक्तछन्द की तरह स्वच्छन्द कर दिया था, किन्तु उच्छृङ्खल वह कभी नहीं था। बाहर की स्वच्छन्दता भीतर के आभिजात्य से, आर्ष स्वभाव से नियन्त्रित थी, मानों संस्कृति के अनुष्टुप छन्द से अनुशासित थी।...इतना ही तो उसके जीवन में पुण्य शेष था।

श्रावणी का पर्व, नर-नारियों का मेला! गङ्गा की बीचियों की तरह ही तट पर मनुष्यों का समूह झिलमिल-झिलमिल कर रहा था—

तरङ्गे हिल मिल गा कलगान
हुई जाती हैं अन्तर्द्धान।

इतने बड़े जनसमूह में कोई किसी को खोज रहा है, कोई किसी को खोज रहा है; कोई मिल कर बिछुड़ रहा है, कोई बिछुड़

कर मिल रहा है। विमल किससे मिले, किससे बिछुड़े! कौन उसका संगी-साथी है, कौन उसका स्वजन-परिजन है! भीड़ में भी वह अकेला है—

'नर-नारी से भरे जगत में
कवि का हृदय अकेला है!'

दूर क्षितिज की ओर वह पृथ्वी और आकाश का मिलन देख रहा था, वहीं कुछ खोज रहा था, जैसे कोई भूला हुआ अतीत याद आ रहा हो।......यही तो श्रावणी का पर्व्व है इसी दिन तो देहात में नगर में आकर उसने किसी को पुकारा था—'दीदी!'

तट के कोलाहल से जब उसका ध्यान भंग हो गया तब अचानक उसकी दृष्टि सीढ़ियों की ओर चल गयी। एक हाथ में पञ्चपात्र, दूसरे हाथ में बिल्वपात्र और फूलों की डलिया लिये हुए आँखों पर पलकों की तरह मस्तक पर आँचल की ओट दिये कोई क्षीण छाया मूर्ति धीर गम्भीर गति से ऊपर देव मन्दिर की दिशा में चली जा रही थी। उतनी भीड़ में भी उसका विरल व्यक्तित्व ज्योतिशिखर की तरह सबसे अलग जान पड़ता था। उसे पहिचान लेने में विमल को दुविधा नहीं हुई। वह हर्षातिरेक से विह्वल विक्षिप्त होकर उसकी ओर दौड़ पड़ा। चरणों पर गिरकर विगलित कण्ठ से पुकार उठा—दीदी! दीदी!!......माँ! माँ!!......

वह विमल की तीर्थमाता वैष्णवी ही तो थी। इस अप्रत्याशित पुकार से चौंक कर ठिठक कर वैष्णवी क्षण भर के लिए स्तब्ध हो गयी। दूसरे क्षण अपने स्नेहकरों से उस भूलुण्ठित कुसुम को उठा कर हृदय से लगा लिया। मानों यशोदा को फिर उसका लाल मिल गया। उसकी आँखों से गङ्गा-यमुना की धारा बह चली। उच्छ्वसित कण्ठ से रुँधे स्वर में वह बोल उठी—वि . म.. ल! अरे, तू है... विमल!! कहाँ चला गया था भाई...!

आकस्मिक आनन्द के भावावेश से शरीर के अवश हो जाने के कारण वैष्णवी गिरने-गिरने ही हो रही थी कि विमल ने पतली

उँगलियों में लेखनी की तरह अपनी कृश बाहुओं से उसे सँभाल लिया।...

राष्ट्रीय जागरण के प्रभातकाल के बिछुड़े-बिछुड़े दोनों बीस वर्ष बाद फिर मिले थे। विमल तारुण्य को पार कर रहा था, वैष्णवी प्रौढ़ावस्था को पार कर रही थी। समय ने दोनों को झकझोर दिया था, किन्तु मुख पर शोभा थी, आभा थी, बहिरन्तर की द्वाभा थी।......

वैष्णवी और विमल उषा और बालखिल्यों की तरह साथ-साथ चल पड़े, फिर साथ-साथ रहने लगे। इस अनन्त भवसागर में जहाँ बुद्बुदों की तरह, आकाश के सितारों की तरह जाने कब कौन कहाँ बह जायगा, न जाने कब कौन कहाँ बह जायगा वहीं ये दोनों अनिश्चित कालप्रवाह में बहते हुए किस दैवी संयोग से फिर एक तट पर आ मिले थे!...

एक दिन वैष्णवी ने कहा—जब से तुम चले गये विमल! तबसे न जाने कितने दुःस्वप्नों में तुम्हें देखती आयी। कभी देखती—कोई काल की तरह महाकराल राक्षस पैने पंजों और लम्बे नुकीले दाँतों से तुम्हारे ऊपर आक्रमण कर रहा है, कभी देखती—कोई दुद्दन्ति दानव तुम्हारे दुर्बल शरीर पर लोमहर्षक अत्याचार कर रहा है।... मैं क्रोधित होकर अपने हाथों से प्रहार करती हुई उसे बरजती रहती—दूर हटो, दूर हटो, हिंसक! यह कोमल कलेवर तुम्हारा ग्रास होने लायक नहीं है।

उन दुःस्वप्नों को याद कर वैष्णवी की आँखों से झर-झर आँसू बहने लगते।

उसके तपःपुञ्ज तेजस्वी जीवन में जो सात्त्विक सुरुचि थी वही तामसिक प्रवृत्तियों को दैत्य रूप में देखती थी। सचमुच, भवसागर में मगरमच्छ भी हैं और मधु-कैटभ-जैसे राक्षस भी। अगजग से अनजान वह नन्हा-सा शिशु विमल बचपन में ही उससे बिछुड़ कर ऐसे संसार में कैसे जी रहा होगा, यह दुश्चिन्ता उस ममतामयी माँ

के लिए स्वाभाविक ही थी। उसी की कल्याणकामना से ही तो विमल उसे फिर सकुशल मिल गया था।

विमल ही क्या उसकी करुण-ममता की सीमा था? वह तो वैष्णवी थी, विश्व ही जिसका विष्णुधाम था, बिन्दु ही उसकी सीमा कैसे हो सकता था! माँ के सब लड़के तो अपने ही लड़के होते हैं, फिर भी किसी शिशु विशेष पर अधिक ममता क्यों हो जाती है?

उसकी कमल-पलकों पर न जाने कितने जीवन-बिन्दु टपक कर सरोवर में विलीन हो गये होंगे। किन्तु विमल ही उसकी बरौनियों में उलझ कर रह गया। इसीलिए इतनी ममता थी, माया थी, चिन्ता थी।..........

अभी दूध के दाँत भी नहीं निकले थे कि विमल माता की गोद से छूट कर बेघर-द्वार का अनाथ हो गया था। इसके बाद वैष्णवी के वात्सल्य ने माँ की गोद की तरह ही उसे अपनी आत्मीयता का अवलम्ब दे दिया था। यदि वह अवलम्ब न मिलता तो विमल क्या संवेदनशील कवि बना रह सकता था! न जाने वह कैसा रूखा-सूखा कबाड़ी आदमी हो जाता। उन थोड़े दिनों के घरेलू स्नेह ने ही उसे असामाजिक प्राणी नहीं होने दिया।

संसार में निरुद्देश्य और निर्बन्ध भ्रमण करते हुए भी वैष्णवी ध्रुवतारिका की तरह उसके दृष्टिपथ पर निरन्तर दीप्तिमान थी। माँ की गोद से बालक और प्रकृति के नीड़ से विहगकुमार बाहर के संसार में अटक-भटक कर जैसे फिर जहाँ का तहाँ आ जाता है वैसे ही विमल भी पुनः वैष्णवी के सान्निध्य में आ गया था। वही उसकी गति-मति-धृति और संस्कृति थी। जीवन के आरम्भ में जो अभिजात संस्कार अंकुरित हुआ था वही वैष्णवी के स्नेह-सिञ्चन में पल्लवित होने लगा, प्रस्फुटित होने लगा।.........

—०—

: १७ :

लेकिन यह क्या ! तन-मन से वैष्णवी के चरणों के समीप रह कर भी विमल अब भी उससे उतना ही दूर था जितना हृदय में उसकी स्मृति सँजोये हुए पहिले था। बात यह है कि शादी ब्याह न होने पर भी वह गृहस्थों की तरह एक जगह जम कर अपनी लेखनी से अनुभूतियों की साधना करने लगा। बचपन का बालयोगी अब अपनी भावनाओं, विचारों और कल्पनाओं में समाधिस्थ हो गया। उसे अपने तन-बदन और असन-बसन की भी सुध-बुध नहीं रह गयी। फिर वह वैष्णवी की ओर कैसे ध्यान दे पाता ! ध्यान दे चाहे न दे, छाया और प्रकाश की तरह वैष्णवी का अनायास प्रभाव उस पर पड़ता ही रहा, पड़ता ही गया।......

खेती नहीं, नौकरी नहीं, दुकानदारी नहीं। पहिले भी कहाँ थी ! लेकिन अब वह मसिजिवी श्रमजीवी था। बचपन में जिन्हें श्रीगणेशाय नमः कह कर अक्षरारम्भ किया था उन्हीं का वह शोषित अभिशापित कुलधर हो गया। स्याही की बूँदों में रक्त की बूँदें दे देकर अपने शेष जीवन को निःशेष करने लगा।......

लिखते-लिखते मध्याह्न हो जाता, श्रमिक भी अपने अपने घरों में आकर आहार-विहार कर जाते। लेकिन इसके लिए समय का कोई अस्तित्व नहीं रह गया था।—युग को कैसी आत्माहुति दे रहा था !

बचपन में वैष्णवी उसे पाठशाला जाने के लिए सोते से जगाती थी, अब भोजन करने के लिए समाधि से जगाती थी। लेकिन वह जगा हुआ भी सोया ही था, न जाने किस लोक में तिरोहित हो गया था कि इस दुनिया का कुछ सुनता नहीं था। अन्त में वैष्णवी दुलार से उलाहना देकर उसकी संवेदना जगाती—सुनते हो, मुझे बड़ी जोर से भूख लगी है।

'जाओ तुम खा लो दीदी! मुझे अभी भूख नहीं है।' —किसी व्याघात से नींद उचट जाने पर जैसे कोई हाँ-हूँ-उँह कह कर करवट बदल लेता है वैसे विमल सुनी अनसुनी करके फिर अपनी समाधि में डूब जाता।

—•—

: १८ :

अकेले विमल ही क्या अपना बलिदान दे रहा था ! वैष्णवी भी तो जीवन के उषाकाल से ही अपना बलिदान देती आ रही थी। वह बाल-विधवा थी—

"वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी
वह दीपशिखा-सी शान्त, भाव में लीन
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है,
व्यथा की भूली हुई कथा है।"

कब उसके सीमान्त में सिन्दूर लगा, कब वह विधवा हो गयी, इसे उसने जाना ही नहीं !...माँ की गोदी में खेलते-खेलते वह गृह के प्रांगण में—पृथ्वी के आँगन में—खेलने लगी थी, खेल ही खेल में सयानी हो गयी। माँ के आँचल में शैशव का जो सरल सुखद संस्कार बना, जीवन में वही अक्षुण्ण हो गया।

जाने अनजाने जैसे ऋतुओं का प्रभाव उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग पर पड़ा वैसे ही वात्सल्यमयी माता की गृहसाधना और जीवन्मुक्त पिता की आत्मसाधना का भी प्रभाव उसके अन्तरङ्ग पर पड़ा। वात्सल्य और वैराग्य में उसके जीवन के सौन्दर्य और माधुर्य ने घुलमिल कर एक नवीन व्यक्तित्व धारण कर लिया।

क्या वह शोभा-सुषमा की तपस्विनी उमा थी ? उमा ने कहा था—

जनम कोटि लगि रगरि हमारी।
बरउँ सम्भु नतु रहउँ कुमारी॥

उमा ने बिना देखे ही शिव को कैसे पहिचान लिया था ? अरे, वह तो उसका अन्तर्यामी था, उसकी भाव-चेतना का ही अन्तःस्वरूप था।—

जाकी रही भावना जैसी।
हरि मूरति देखी तिन तैसी॥

उमा ने अपने अन्तर्यामी शिव को सदेह पा लिया था, उषा ने अपने स्वप्नसुन्दर प्रियतम अनिरुद्ध को प्रत्यक्ष पा लिया था। किन्तु वैष्णवी ने न कुछ खोया ही, न पाया ही। बालवय में जिसके साथ कभी उसका वैवाहिक संस्कार हुआ था, उसे तो उसने कभी न देखा न जाना, उसका क्या पाना क्या खोना ! परिणत वय में जब उसने भी अपने अन्तर्यामी को पहिचाना, तब दृश्यजगत में वह उसे कहीं मिला नहीं। अव्यक्त मनोभाव की तरह अन्तर में ही अदृश्य रह गया।—

'उसके मधु सुहाग का दर्पण
जिसमें देखा था उसने
बस एक बार बिम्बित अपना जीवन-धन,
अबल हाथों का एक सहारा—
लक्ष्य जीवन का प्यारा—वह ध्रुवतारा—
दूर हुआ वह बहा रहा है
उस अनन्त पथ से करुणा की धारा।"

वह अदृश्य-अलक्ष्य आराध्य ही उसके हृदयमन्दिर में इष्टदेव बनकर बस गया। उसकी आराधना में उसका बालवैधव्य चिर-कौमार्य्य हो गया।

ऋषियों ने परीक्षा लेने के लिए जब उमा को शिव की ओर से विमुख कर विष्णु की ओर प्रेरित करने का प्रयत्न किया तब उसने नर-नारी के रूढ़ विवाह के प्रति व्यङ्ग्य किया था—'वर कन्या अनेक जग माँहीं।' ऐसे संसार में जिसे दाम्पत्य सुख कहा जाता है वह सुख वैष्णवी के लिए भी सुलभ हो सकता था। किन्तु विमला ने जैसे आर्थिक विषमता पर आधारित सुख-सम्पन्नता को अस्वीकार करने के लिए ही दारिद्रय को स्वेच्छा से स्वीकार कर लिया था वैसे ही वैष्णवी ने अनेक विषमताओं से विषाक्त सुख-सुविधाओं को अस्वीकार करने के लिए ही स्वेच्छा से वैधव्य को अङ्गीकार कर लिया था।

उसके हृदय का प्रणय-सुख क्षणिक सांसारिक सुख नहीं था, वह तो शाश्वत और अन्तर्व्यापी था—'जनम-अवधि हम रूप निहारलु तऊ न तिरपित भेल।'—जो अतृप्त सुख संसार की सङ्कुचित सीमाओं में, द्वाइङ्ग की रेखाओं में बँध नहीं सका वही उसका सामाजिक विषाद बन गया।—

"अलभ है इष्ट अतः अनलोल
साधना ही जीवन का मोल।"

अभीष्ट को समष्टि में पा जाने की विकल वेदना ही उसकी साधना थी। अपने आराध्य से मानो वह भी यही कहती थी—

"तुम मानस में बस जाओ
छिप दुख के अवगुण्ठन से,
मैं तुम्हें खोजने के मिस
परिचित हो लूँ कण कण से।"

—इसी तरह तो वह विमल से भी परिचित हुई थी।

निर्धन होते हुए भी विमल जैसे जीवन के ऐश्वर्यों (सौन्दर्य्य, संस्कृति, कला, काव्य) से अनुराग रखता था, अभावों में भी भावों को प्यार करता था; वैसे ही वैष्णवी भी, विधवा होते हुए भी, सृष्टि के रूप-रंग-आनन्द-उल्लास को हृदय से चाहती थी, जीवन को शिल्प से सजाती थी, कला को रस से अनुरञ्जित कर लेती थी।

उसका मुखमण्डल वैधव्य से उदास और अवसन्न नहीं, कौमार्य्य से प्रफुल्लित और प्रसन्न था। इसीलिए नारी का भोग-पक्ष छोड़ कर, अपनी अन्य सभी सुरुचिपूर्ण शृङ्गारिक प्रवृत्तियों को उसने अपना लिया था जिन्हें सनातन हिन्दू-समाज में विधवाओं के लिए निषिद्ध माना जाता है। वह पान भी खाती थी, रंग-बिरंगे परिधान और अलङ्कार भी धारण करती थी। कन्याओं की तरह हथेली पर मेंहदी रच लेती थी, उन्हीं की तरह किलक-पुलक उठती थी। श्वासवायु की तरह वह सृष्टि के समस्त रूप-रस-रंग-गन्ध को ग्रहण करती थी।

एकाकिनी नारी! यह इतना शोभा-शृङ्गार किस लिए, किसको रिझाने के लिए? उस प्रकृति से पूछो जो एकान्त में अपनी छटा सँवारती है—'गाती आप, देती सुकुमार करों से ताल।'

जीवन में क्या सब कुछ लोकप्रदर्शन के लिए ही होता है, मनुष्य का स्वान्तःसुखाय कुछ भी नहीं है? उसके बिना तो सब कुछ निष्प्राण है।

किसी युग में विधवाओं को सती हो जाना पड़ता था। वह प्रथा यदि आत्महत्या थी तो अपनी भावचेतना को कुण्ठित कर लेना भी आत्महत्या ही है। वैष्णवी ने यह आत्महत्या स्वीकार नहीं की।

फिर नारी के भोगपक्ष से ही वह विमुख क्यों थी? क्या इसलिए कि वह विधवा थी? विधवा कहते ही उसकी आँखों में ऐसी प्रज्ज्वलित शक्ति दहक उठती थी जो शरीर का अतिक्रमण कर मानों कहती थी—पहिचानो मैं कौन हूँ!

वह तो वही चिन्मयी ज्योति थी, वही ज्योतिर्म्मयी जगदीश्वरी थी जो विधि-विधान से सदेह होकर मृण्मयी मानवी हो गयी थी। देह के दीपक में लौ की तरह, नश्वर शरीर में चिता की तरह जल रही थी। वह भोगवती नहीं, भगवती थी। ज्योति को अखण्ड रखने के लिए ही भोग से विमुख हो गई थी। वह अपने प्रभु के चरणों की अखण्ड सौभाग्यवती थी।

—०—

: १६ :

नारी के लिए समाज में अनेक रेखाएँ हैं, अनेक बाधाएँ हैं, अनेक सीमाएँ हैं। युग-युग से चली आ रही उन सीमाओं अथवा परम्पराओं को रूढ़ि कहा जाता है। जिन रूढ़ियों से जीवन निखर जाता है, उज्वल हो जाता है, उन्हें वैष्णवी ने बिना किसी सामाजिक अनुशासन के ही स्वीकार कर लिया था, जैसे वैधव्य को। अन्तःशुद्धि के लिए नियम-संयम की तरह वह देह-शुद्धि के लिए आहार-विहार के आचार-विचार को, चौका-चूल्हा को भी मानती थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि जो केवल शरीर से नहीं जी रही थी वह निरामिष नारी थी। न अपना शोषण होने देना चाहती थी और न किसी जीव का भक्षण करना चाहती थी।

उसमें मृगतृष्णा नहीं थी। अपनी आत्मप्रज्ञा से नारी के श्रेय-प्रेय को जानती थी, अतएव समाज द्वारा खींची हुई रेखा का अन्धअनुसरण नहीं करती थी। रूढ़ियों का अपने विवेक से सदुपयोग करती थी। उसमें मौलिकता थी। उसकी अपनी ही रीति-नीति थी, अपनी भी चित्ररेखा थी, अपनी भी छन्दयोजना थी, अपनी भी स्वरलिपि थी।

पुरुष ने किसी युग में नारी को अबला समझकर मर्यादा की रेखा खींचते हुए कहा था—देखो इसके बाहर मत जाना। वैष्णवी

ने आत्मविश्वासपूर्वक अपनी रेखा खींच कर-समाज से कहा—देखो इसके भीतर मत आना।

अपनी भिन्न रेखा के कारण पुरानी रेखा से अभ्यस्त स्त्री-पुरुष दोनों से उसका सामाजिक संघर्ष हो जाता था। यही संघर्ष प्रेम की दृष्टि से गोपियों ने और भक्ति की दृष्टि से मीरा ने भी किया था। यह निर्जीव रूढ़ि के साथ सजीव चेतना (सौन्दर्य, सुरुचि, संस्कृति) का संघर्ष था।......

जीवन की अनुभूति और अभिव्यक्ति में स्वतन्त्र होते हुए भी वैष्णवी पुरानी पीढ़ी की ही नवीन आत्मा थी, पुरानी परम्परा की ही नवीन प्रेरणा थी। वह समाज को विच्छिन्न नहीं करना चाहती थी, बल्कि उसी के अस्तित्व को जीवन शक्ति देने के लिए संयम से संस्कृति का और सहृदयता से स्वभाव का भावविकास करना चाहती थी। वह विद्रोहिणी नहीं, पुजारिणी थी।

संसार की सीमा में ही उसका भी अपना एक मनोज्ञ संसार था, समाज की सीमा में पूजा के मन्दिर को तरह। यहाँ चरणों पर कितने फूल चढ़ते हैं, कितने मृदुदल सरस पराग' बिखरते हैं। किन्तु ये सब वैष्णवी के लिए काम्य अथवा उपभोग्य नहीं, केवल नैवेद्य थे।

उसके मन्दिर का विस्तार यह सारा संसार था। जीवन की जिस शुचिता, रुचिरता, सरलता और संवेद्यता की वह पुजारिणी थी, उसी की साधना उसकी विश्वसाधना थी। गृह के प्राङ्गण को, चारों ओर के वातावरण को, समाज के आचरण को वह देवालय की दृष्टि से ही देखती थी। वैसी ही निष्ठा, वैसी ही संस्कारिता से अगजग को शुचिरुचिमय देखना चाहती थी...

मन्दिर मनुष्य की सांस्कृतिक साधना का स्थापत्य है, मानसिक चेतना का मूर्त्त रूप है, जैसे आत्मा का अधिष्ठान शरीर। गोस्वामी जी ने कहा है—

होइहि भजनु न तामस देहा।
मन, क्रम, वचन मन्त्र दृढ़ एहा॥

आराध्य की आरती उतारने के पहिले जैसे मन्दिर को पवित्र कर लेना पड़ता है वैसे ही दिग्मण्डल में चेतना के आलोक की प्रदक्षिणा करने के पहिले देह को सात्त्विक बना लेना पड़ता है। वैष्णवी की दिव्य साधना इसी देह-गेह की शुद्धता से आरम्भ होती थी। जो चेतना भौतिक परिष्कार करती है वही तो आध्यात्मिक संस्कार बन कर निर्म्मल में उज्ज्वल प्रकाश की तरह जगमगा दीपक उठती है।

आहार-विहार के नियम-संयम से वह शरीर की परिशुद्धि करती ही थी, गृह को भी दीपावली के घर की तरह परिष्कृत और आलोकित कर देती थी।

जीवन के परिमार्जन के लिए नैतिक अनुशासन (आदर्श भीरुता) ही नहीं, हार्दिक तरलता (आत्मद्रवणता) भी चाहिये। वैष्णवी को अनुशासन की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि आदर्श उसका स्वाभाविक स्पन्दन बन चुका था। उसीकी तरह आत्मद्रवणता भी उसकी नैसर्गिक सहृदयता थी। मिट्टी की देह में वह वैसे ही प्रवाहित थी जैसे पृथ्वी के आवरण में सरिता।

उसी सरिता की सजलता लेकर वह देह की तरह गेह को भी धवल-विमल कर देती थी। जब देखा तब हाथ में मार्जनी और जल से भरा पात्र लेकर घर का कोना-कोना झाड़ती-बुहारती, धोती-बहाती धोबी के धुले कपड़े का भी विश्वास नहीं करती थी, उसे भी फिर से धो कर ही धारण करने योग्य बना लेती थी। ऐसी थी उसकी पावन संस्कारिता।

उसे प्रतिक्षण जल में ही लवलीन देख कर एक दिन विमल हँसी-हँसी में बोल उठा—तू उस जन्म में पानी की मछली बनेगी। कहने के साथ ही उसे अपनी भूल मालूम हो गई। मछली में तो दुर्गन्ध होती है। वैष्णवी के जीवन में दुर्गन्ध नहीं, सुगन्ध ही सुगन्ध थी। वह तो कमलिनी थी, कुमुदिनी थी।......

संस्कृति की शुचिता ही उसकी कला में रुचिरता बन गयी थी। चित्र के रूप-रंग और सङ्गीत के लय-माधुर्य्य की तरह ही वह अपनी सुरुचि से जीवन के शोभा-सौन्दर्य्य का चारुचयन करती थी। अड़ोस-पड़ोस के शिशुओं (समाज के भावी कलि-कुसुमों) को साथ लेकर उपवन से फूल चुनती थी, माला गूँथती थी, दीवालों पर प्रकृति की प्रतिच्छवि आँकती थी। बच्चों को प्यार करती थी, बहुओं को स्नेहोपहार देती थी। आराध्य के नैवेद्य को, निर्म्माल्य को उन्हीं के जीवन का माङ्गल्य बना देने के लिए उसने भोग का उत्सर्ग कर दिया था।

—:*:—

: २० :

कैसी भोली थी वह ! एक बार रात के अँधेरे में किसी दुष्ट ने खिड़की से कागज का रंग-बिरंगा साँप उसके कमरे में छोड़ दिया। विमल घर में नहीं था। बाहर से लौट कर जब आया तब वैष्णवी को चिड़िया की तरह विकल और त्रस्त पाया। पूछने पर वैष्णवी ने अपनी परेशानी का कारण बताते हुए कहा—ओह, वह कैसा खूनी रंग का भयङ्कर भुजङ्ग था। ज्यों ही मैंने लालटेन जलाई त्यों ही वह भाग गया।

साँप क्या खूनी रंग का भी होता है? रोशनी से घबड़ा कर भाग जाता है? विमल ने समझा, यह भी वैष्णवी का कोई दुःस्वप्न है। अपने कागज-कलम में ही डूबे रहने के कारण वह दुनिया के मेले-झमेले से दूर हो गया था। बचपन की तरह वह अब भी खेल-खिलौनों से मन बहलाता रहता तो असली बात समझ जाता। हाट-बाजार आते-जाते रहने पर भी जब वही असलियत नहीं जान सका तो गृहवासिनी वैष्णवी ही भला क्या जान पाती !

यदि साँप कागज का ही था तो चला कैसे गया। जिस दुष्ट ने यह सर्प-क्रीड़ा की थी उसी ने लालटेन जलने के पहिले उसे कठपुतली की तरह डोरी से खींच लिया होगा।

वैष्णवी के भय से विमल भी भयभीत हो गया। वह तो अपनी चारपाई पर सो रहा, वैष्णवी पृथ्वी पर ही सो रही। माता की गोद की तरह पृथ्वी ही उसकी शय्या थी।

विमल ने कहा—यदि साँप फिर निकल कर चारपाई पर चढ़ आया तो ?......

वैष्णवी ने कहा—नहीं, वह चारपाई पर नहीं चढ़ सकेगा। उसे रामजी की शपथ है, चढ़ने का प्रयत्न करते ही मर जायगा

क्या सचमुच ? फिर चिड़ियों के घोंसलों पर धावा बोलने के लिए वह पेड़ पर कैसे चढ़ जाता है !

विमल को सोचना चाहिये था कि चारपाई पर चाहे न चढ़ सके, जमीन पर तो सरक ही सकता था। फिर क्यों नहीं वैष्णवी के लिये चारपाई छोड़ कर स्वयं जमीन पर सो गया ?

कभी-कभी जीवन में धर्म्मसंकट भी उपस्थित हो जाता है। वैष्णवी क्या आत्मरक्षा के लिए विमल का बलिदान लेना पसन्द कर सकती थी !

मन में धर्म्मसंकट की धारणा न होते हुए भी विमल संस्कारवश वैष्णवी को ही अपना सङ्कटमोचन मानता था। बचपन में बाहर के अत्याचार और प्रहार से प्रताड़ित होने पर उसी के आँचल में तो आश्रय लेता था। मैं तो कहूँगा—वह सदा से ही लोकभीरु और कापुरुष है। लुटपन में जब रामलीला देखने जाता था तब कागज का ताड़-सा लम्ब तड़ंग रावण देख कर डर जाता था। वह उसकी कोमलता और अबोधता हो सकती है। लेकिन अब भी वह वैसा ही कोमल, वैसा ही अबोध, वैसा ही असहाय था।

क्या वैष्णवी भी डरपोक थी ? साँप को देखकर क्या उसे अपने प्राणों का मोह हो गया था ? कहते हैं, सीता जी चित्र में अङ्कित कपि को देखकर डर जाती थीं। क्या वे भी डरपोक थीं ? नहीं, न वैष्णवी को साँप से भय लगता था, न सीता को कपि से भय लगता था। असल में उनकी दृष्टि कला की ललिता

कलित दृष्टि थी। इसीलिए कवि ने कहा है, वे जिधर-जिधर चितवन करती थीं उधर-उधर सौन्दर्य का शतदल खिल पड़ता था,

जहँ बिलोकि मृगसावक नयनी।
जनु तहँ बरिस कमल सित श्रेनी॥

वैष्णवी की भी दृष्टि ऐसी ही शोभाशालिनी थी। सृष्टि में कुरूपता और करालता भी है, कला में उसका भी स्थान है, लेकिन वही तो कला का भावादर्श नहीं हो सकती।

सीता और वैष्णवी की कोमलता विलासिनियों सुकुमारता नहीं थी, वह तो नारी की नैसर्गिक रमणीयता थी। जिस प्रकृति ने उन्हें मृदुलता दी थी, उसी प्रकृति ने उन्हें प्रतिकूल परिस्थितियों में आत्मविकास की शक्ति भी दी थी। तभी तो सरिता सरल सजल होते हुए भी चट्टानों को तोड़-फोड़ देती है, कुसुमकलिका मधुर कोमल होते हुए भी काँटों का अतिक्रमण कर जाती है।...

हिन्दू-मुस्लिम दंगे के दिनों में विमल ने एक दिन देखा, वैष्णवी अपने सिरहाने चाकू रख कर सोती है। उसे कौतूहल हुआ—इस छोटे-से शस्त्र का भला क्या उपयोग कर सकेगी! वैष्णवी ने प्रचण्ड मुद्रा में कहा—आततायी को देखते ही उसकी आँखों में घप्प से घोंप दूँगी!

—ऐसी रुद्राणी होने पर भी वही उमा थी, पार्वती थी, सीता थी, राधा थी, शकुन्तला थी, यशोधरा थी।

—:o:—

: २१ :

विमल ने वैष्णवी को जब बचपन में देखा था तब उसके वात्सल्य का ही अनुभव किया था, उसकी वेदना को, उसकी साधना को नहीं समझ सका था। अब सहानुभूति की आँखों से देखने पर उसे ऐसा जान पड़ता था कि यह तो उसी मानसी सुषमा की मानवी प्रतिमा है जिसकी कवि कल्पना करता था—

"तुम्हारे छूने में था प्राण,
संग में पावन गङ्गा-स्नान;
तुम्हारी वाणी में कल्याणि!
त्रिवेणी की लहरों का गान।
उषा का था उर में आवास,
मुकुल का मुख में मृदुल विकास,
चाँदनी का स्वभाव में भास,
विचारों में बच्चों के साँस।"

काव्य में, कला में, प्रकृति में, संस्कृति में, जहाँ कहीं निःस्पृह, निरीह, सरल, उज्ज्वल करुण भाव उसका मर्म्म स्पर्श कर लेता वहाँ वैष्णवी का ही व्यक्तित्व उसकी आँखों के सामने सजल सजीव हो जाता था। वही उसकी चेतना थी, वही उसकी प्राणशिरा थी। उसके बिना सब कुछ सुनसान, सब कुछ श्मशान जान पड़ता था।

समीप रह कर वह उसे भूला-भूला रहता, लेकिन कभी उससे बिछुड़ जाने पर बच्चों की तरह बिलखने लगता।

मानव-स्वभाव की विडम्बना देखिये! एक साथ रहते-रहते दोनों प्रायः लड़ भी जाते थे, मानों फिर अपने शैशव की ओर लौट जाते थे। स्नेह के इस संघर्ष में अपराध किसका रहता था? इसे आप ही विचारिये।

विमल अपने अब तक के जीवन से झुँझलाया हुआ था। वह बात-बात में खीझ उठता था। उसके शुष्ककण्ठ की रूक्षता से खिन्न होकर वैष्णवी कहती—बचपन में तू कितना मीठा बोलता था रे, अब फटे बाँस की तरह कैसा कर्कश हो गया है!

विमल 'ऊंह' कह कर उदासीनता से मुँह फेर लेता, अन्यमनस्क हो जाता। मानों बचपन की मधुरता और इस नीरस जीवन की कर्कशता, दोनों ही उसके लिए निःसत्व हो गयी थीं।

शरीर से पालन-पोषण उसे मिला नहीं, माया-ममता से उसका हृदय मसृण हो सका नहीं। उसका तन-मन इतना अतृप्त और अकिञ्चन हो गया था कि अत्याचार को तो झेल सकता था, क्योंकि उसका अभ्यस्त हो गया था, किन्तु प्यार का भार नहीं उठा सकता था। सोचता—'वैभव कितना बाँध सकूँगा फटे-हुए निज अञ्चल में!'—इसीलिए वैष्णवी जब उसे प्यार-दुलार करती तब वह खिझलाये हुए लड़के की तरह उसे मार देता।

वैष्णवी के भीतर नारी के स्वाभिमान की प्रतिक्रिया जग जाती, वह भी क्रुद्ध और क्षुब्ध हो जाती। पञ्चभूतों के शरीर में सभी के भीतर थोड़ा-बहुत पावक का अंश रहता ही है, उसी से मनुष्य को क्रोध भी आ जाता है। फिर वैष्णवी में तो तपश्चर्य्या की उष्णता भी थी। वह ऐसी तेजस्वनी थी कि आजीवन किसी भी अन्याय अविचार के सामने झुकी नहीं, दुर्दान्त से दुर्दान्त दनुज का भी रोष सह सकी नहीं। लेकिन इस विमल को क्या कहे! जो सर्व्वहारा है, उसे पराजित करने में भला क्या पराक्रम है!—

"न इसमें स्वर्ग, न कीर्त्ति न मान,
अनार्य्योचित है यह अज्ञान ।"

विमल तो अपने स्वभाव का सन्तुलन खो बैठता, लेकिन वैष्णवी अपने स्वभाव का सन्तुलन बनाये रखती। विमल में जितना ही अविवेक था वैष्णवी में उतना ही गुरु गाम्भीर्य्य, इसी लिए उसका स्वभाव निर्म्मम नहीं हो सका—

"समझ जाती उस जड़ का सारा अज्ञान
फूट पड़ती ओठों पर मृदु-मृदु मुसकान।"

मर्म्माहत हृदय की व्यथा से छलक आये आँसुओं को पोंछ कर वह बोल उठती—अरे, तू तो मुझसे भी अभागा है! न माँ का स्नेह पाया, न पिता का प्यार पाया, न समाज का सौहार्द पाया!

—तो क्या विमल का जीवन वैधव्य से भी अधिक करुण था!!...

सामाजिक दृष्टि से दोनों के जीवन में साम्य था। समाज का सौहार्द न विमल को मिला, न वैष्णवी को मिला। कालप्रवाह में तिनकों की तरह बहते-बहते दोनों एक तट पर आ मिले थे। लेकिन मिल कर भी कहाँ मिल सके!...

विमल और वैष्णवी दोनों का जीवन अभावों से जर्ज्जरित हो चुका था। अभावों के अतिरिक्त जप-तप, पूजा-पाठ से, कभी निर्जल और कभी निराहार व्रत से वैष्णवी का शिरीष-कोमल शरीर कृश हो गया था। उसके जीवन में नियम-संयम का जो नियन्त्रित छन्द था उसी से उसका शरीर अभी तक टिका हुआ था। कुछ दिनों और भी टिक सकता था। लेकिन झंझावत की तरह विमल ने आकर उसके जीवन को अस्तव्यस्त कर दिया।

वैष्णवी की तरह अभावों में भी वह नियम-संयम (जीवन के सन्तुलित छन्द) की साधना नहीं कर सका। उसके मुक्तछन्द से वैष्णवी के जीवन के सधे तार छिन्न-भिन्न हो गये। अपना ही दुर्भाग्य जिसके लिए दूभर था, उसे अपना और विमल का दुहरा दुर्भाग्य लेकर चलना कठिन हो गया। उसकी आत्महुति पराकाष्ठ

पर पहुँच गयी, एक दिन यज्ञ की ज्वाला की तरह धधक कर वह सदा के लिए शान्त हो गयी !....

हतभाग्य विमल अन्तिम क्षणों में उसके पास नहीं पहुँच सका। दूसरे दिन ब्राह्ममुहूर्त्त में वह वैष्णवी का शव ही पा सका। देखा—मुखमण्डल पर वही चिरदिन की दीप्ति थी, वही कमनीय आभा भी, मानों सस्मित उषा ही स्वर्णिम सन्ध्या में अस्तमित हो गयी थी। उसे देख कर मृत्यु भी सजीव जान पड़ती थी। उसने अपनी देह की चादर ज्यों की त्यों उतार कर रख दी थी।

विमल को विश्वास नहीं हुआ कि वह अपने शरीर के साथ ही संसार को भी छोड़ कर चली गयी। किन्तु जब चिता की लपटें लहक कर गङ्गाजल में प्रतिबिम्बित होने लगी तब उसने अनुभव किया—

'बहती जातीं साथ तुम्हारे स्मृतियाँ कितनी,
दग्ध चिता के कितने हाहाकार !
नश्वरता की-थीं सजीव जो-कृतियाँ कितनी,
अबलाओं की कितनी करुण पुकार !

अभी कल तक जो अपने पार्थिव कलेवर में पृथ्वी पर प्रत्यक्ष थी वह अब धूम्रगन्ध की तरह, पुष्पपरिमल की तरह किस अनन्त में विलीन हो गयी ! जिसे खोकर भी विमल ने फिर पा लिया था और पाकर भी जिसे फिर खो दिया अब वह कहाँ मिलेगी ! !

क्या खोना ही खोना विमल के जीवन का भाग्यविधान है !......

वैष्णवी को खोकर भी विमल एकदम से रो नहीं सका। उसका हृदय दुःख सहते-सहते इतना मोच खा गया था कि उसकी पीड़ा बाहर दिखाई नहीं देती थी, भीतर ही भीतर पुञ्जीभूत होती जाती थी। क्या अन्तर्वेदना को एक दिन में ही आँसुओं में बहाया जा सकता है ! तब तो दारुण यातना से सहज ही मुक्ति मिल जाती।

वैष्णवी का वियोग विमल का चिरन्तन क्रन्दन हो गया। अपने बड़े-से-बड़े दुःख में भी जिसका हृदय पाषाण ही बना रहता था अब उसीका मर्म्म भेद कर एकान्त के क्षणों में पश्चाताप के बूँद-बूँद आँसू निरन्तर टपकने लगे।

--*--

: २२ :

"जन्म ही जिसको हुआ वियोग
तुम्हारा ही तो हूं उच्छ्वास ।"

वैष्णवी के चले जाने के बाद उसका अन्तिम निःश्वास ही विमल का श्वास-प्रश्वास हो गया। शरीर अब भी उसका अपना ही है, किन्तु जीवनी शक्ति वैष्णवी की स्मृति हो गयी है, वही उसके पार्थिव अस्थित्व में स्वर्गीय ज्योति बनकर निवास कर रही है।

पहिले वह सर्व्वहारा था, किन्तु भीतर से रिक्त नहीं था, आत्महारा नहीं था। बाहर कभी प्रयत्त होकर भी जो अन्तर में ही अगोचर थी अब वही बाहर-भीतर सवत्र व्याप्त होकर उसकी आत्मचेतना का सर्वस्व हो गयी। इष्टदेव के स्मरण, चिन्तन, कीर्त्तन की तरह ही अब वैष्णवी ही विमल का ध्यान-गान है। उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते वह उसी की स्मृति में लीन रहता है। वैष्णवी ही उसकी सन्ध्या-गायत्री बन गयी है।

अनुताप से, पश्चात्ताप से द्रवित होकर वह सोचता है—

"एक बार भी यदि अजान के
अन्तर से उठ आ जातीं तुम
एक बार भी प्राणों की तम-
छाया में आ कह जातीं तुम

सत्य हृदय का अपना हाल
कैसा था अतीत वह, अब यह
बीत रहा है कैसा काल।

मैं न कभी कुछ कहता,
बस. तुम्हें देखता रहता,

चकित, थकी, चितवन मेरी रह जाती
दग्ध हृदय के अगणित व्याकुल भाव
मौन दृष्टि की ही भाषा कह जाती।"

वैष्णवी जब सदेह थी तब विमल कभी उससे भरमुँह बात नहीं कर सका। वह इतनी सजीव थी, इतनी देदीप्यमान थी कि चिर-अजर-अमर शाश्वत सत्ता जान पड़ती थी, उसे देखकर नश्वरता का अनुभव नहीं होता था। उस समय विमल अपने में ही डूबा रहता था। सोचता इससे बात करने के लिए तो जीवन ही जीवन पड़ा हुआ है। कभी अवसर मिलने पर जी की बातें कर लूँगा। लेकिन उसके जीते जी अवसर आया नहीं। सच तो यह कि उस समय उसके पास कहने के लिए कुछ था भी नहीं, यदि कुछ था भी तो वैष्णवी के अंचल में सुप्त था, आश्वस्त था। अब जब वह चली गयी तब उसके अभाव में हृदय का न जाने कितना आवेदन-निवेदन-क्रन्दन एकत्र हो गया है। एकान्त में वह स्वयं ही अपने उद्‌गारों को सुनता-सुनाता है। क्या यहाँ की अन्तर्ध्वनि वैष्णवी के अज्ञात लोक तक पहुँच पाती होगी!.........

विमल का कमरा अब वैष्णवी का स्मृति-मन्दिर बन गया है। उसकी चेतना का सूक्ष्म चित्र हृदय में है, अन्तिम दर्शन का पार्थिव चित्र मन्दिर की प्रतिमा की तरह कमरे में प्रतिष्ठापित है। उसीके चतुर्दिक अन्य देवी-देवताओं के चित्र भी सुशोभित हैं।

बचपन में माता के साथ विमल देवमन्दिरों में जाया करता था। उस अबोध वय में उसके मन में कोई आस्तिक भावना नहीं थी। फिर भी श्रद्धा-भक्ति के उस वातावरण में कोई रहस्यपूर्ण

अज्ञात दैवी सत्ता उसके निर्विकार हृदय का मर्म्मस्पर्श कर लेती थी। उसे वह समझ नहीं सकता था, फिर भी अभिवादन के लिए दोनों हाथ जुड़ जाते थे। मस्तक आप ही आप झुक जाता था। अब इतने वर्षों बाद उस दैवी सत्ता को वैष्णवी के व्यक्तित्व में भासमान देखने लगा है। देवी-देवताओं के ये सभी चित्र उसी के तो विविध चित्र हैं।

वैष्णवी का स्मृति-मन्दिर क्या इस कमरे में, उसकी आत्मा क्या इस कमरे के चित्रों में ही सीमित है? नहीं; जहाँ-जहाँ करुणा है, पीड़ा है, सेवा है, श्रद्धा है, स्नेह है, सुषमा है, वहाँ-वहाँ उसके मन्दिर का, उसकी चेतना का विस्तार है। ......

विमल में अपनी कवि-वेदना तो थी ही, अब वैष्णवी की विश्व-वेदना लेकर वह अधिक संवेदनशील हो गया है। पहिले वह अपनी संवेदना में निष्क्रिय था। अपने ही सुख दुख में आत्मलिप्सु था; यहाँ तक कि वैष्णवी को भी सक्रिय सहानुभूति नहीं दे सका था; अब वह सभी निरीहों और विपन्नों को सहृदयता का सहयोग देने लगा है। उनमें उसे वैष्णवी ही वैष्णवी दिखाई देने लगी है।

वैष्णवी ने जीवन को आराध्य का नैवेद्य और देवता का निर्म्माल्य बना दिया था। अब विमल अपने जीवन को उसके चरणों का पदार्घ्य बना कर स्वयं चरणामृत की तरह ग्रहण करता है और पूजा की प्रसादी की तरह सरल निश्छल प्राणियों को सहयोग देकर सामाजिकता की साधना करता है।

वैष्णवी का स्मृति-मन्दिर तो विमल का मनोलोक है, वहाँ वह अहर्निश निवास करती है। कभी-कभी स्वप्नों में सदेह दिखाई दे जाती है। स्वप्न में जब प्रथम बार उसने वैष्णवी को देखा तो वह एक शरदशुभ्र गो के रूप में अपनी चाँदनी-सी उज्ज्वल आत्मा की झलक देखकर ओझल हो गयी। तभी से विमल के लिए गोपूजा भी उसी की पूजा हो गयी है।

विमल की खिड़की पर छोटे-छोटे बच्चे और बालिकाएँ प्रसादी लेने के लिए आ जाती हैं। सृष्टि के इन नन्हे अरों को वैष्णवीक्क

बहुत प्यार करती थी, इन्हें खिला कर ही अघा जाती थी। विमल जब प्रसादी देता है तब उसे याद आ जाता है, कभी वह भी तो इन्हीं की तरह नन्हा था।

बच्चों को प्रसाद लेते देख कर बन्दरों के झुण्ड भी उसकी खिड़की पर जुड़ते हैं। विमल उन्हें भी प्रसादी देता है, और रक्तकिसलय-से कोमल उनके दुधमुँहें शिशुओं को भी।

एक दिन खिड़की की छड़ों की फाँक से एक कपिशिशु विमल के कमरे में घुस आया। खिड़की पर बानरों की प्रबल सेना चढ़ आयी। सब किटकिटा कर गर्जन-तर्जन और कोलाहल करने लगे। विमल ने चाहा कि बच्चे को बाहर निकाल दे, लेकिन वह तो इधर-से-उधर भाग कर, छिप कर, आँख मिचौनी खेलने लगा। अन्त में थक कर घबड़ा कर किसी तरह स्वयं ही खिड़की के बाहर निकल गया।.......

उस दिन से विमल ने बन्दरों को प्रसादी देना बन्द कर दिया। लेकिन उनके बच्चे खिड़की पर आ ही जाते हैं। नन्हें-नन्हें उन जीवों के झुण्ड ऐसे जान पड़ते हैं मानों ओस के बूँद ही देह धर कर किसी मेले में रेलपेल कर रहे हैं। विमल जब उन्हें प्रसादी देता है तब वे एक दूसरे के हाथ से छीनते-झपटते, किलकारी मारते पृथ्वी पर तारों की तरह इधर-उधर छिटक जाते हैं।

सबसे छोटा बच्चा, जो जीने के लिए भीड़ में संघर्ष नहीं कर पाता, सन्नाटा देख कर फिर खिड़की पर आ बैठता है। हाथों से छड़ पकड़ कर और पैरों को सिगनल की तरह कमरे की ओर सीधा पसार कर कहता है—म्हें म्हें म्हें म्हें!—हमें भी दो, हमें भी दो।.....

वयस्क हो जाने पर भी विमल का मुख अब भी बच्चों-जैसा ही है। उनके बीच वह अपने ही मन का समाज पा जाना चाहता है। शिशु रह कर ही वह सृष्टि की महिमा गरिमा को शिरोधार्य करना चाहता है। पूजा के मन्दिर में यही उसका आत्मनिवेदन है—

मा ! मैं लघु से लघु होकर भी
तेरी महिमा दिखलाऊँ।
एक तारिका बन कर तेरी—
शशि-छवि अधिक बढ़ा जाऊँ !

तेरी वीणा के तारों में
एक गीति बन मँडराऊँ,
तेरी ही बन एक रागिनी
लय अनन्त में हो जाऊँ !

तेरे ही इस प्रेमसिन्धु की
एक वीचि बन लहराऊँ,
तेरी ही लीला दिखला कर
फिर तुझमें ही मिल जाऊँ !

मा ! तेरे सौरभ के वन में
एक कली-सी खिल जाऊँ,
तेरी ही माला में गुथ कर
मैं पूजा में चढ़ जाऊँ !

—o—

बहुत प्यार करती थी, इन्हें खिला कर ही अघा जाती थी। विमल जब प्रसादी देता है तब उसे याद आ जाता है, कभी वह भी तो इन्हीं की तरह नन्हा था।

बच्चों को प्रसाद लेते देख कर बन्दरों के झुण्ड भी उसकी खिड़की पर जुड़ते हैं। विमल उन्हें भी प्रसादी देता है, और रक्तकिसलय-से कोमल उनके दुधमुँहे शिशुओं को भी।

एक दिन खिड़की की छड़ों की फाँक से एक कपिशिशु विमल के कमरे में घुस आया। खिड़की पर बानरों की प्रबल सेना चढ़ आयी। सब किटकिटा कर गर्जन-तर्जन और कोलाहल करने लगे। विमल ने चाहा कि बच्चे को बाहर निकाल दे, लेकिन वह तो इधर-से-उधर भाग कर, छिप कर, आँख मिचौनी खेलने लगा। अन्त में थक कर घबड़ा कर किसी तरह स्वयं ही खिड़की के बाहर निकल गया।......

उस दिन से विमल ने बन्दरों को प्रसादी देना बन्द कर दिया। लेकिन उनके बच्चे खिड़की पर आ ही जाते हैं। नन्हें-नन्हें उन जीवों के झुण्ड ऐसे जान पड़ते हैं मानों ओस के बूँद ही देह धर कर किसी मेले में रेलपेल कर रहे हैं। विमल जब उन्हें प्रसादी देता है तब वे एक दूसरे के हाथ से छीनते-झपटते, किलकारी मारते पृथ्वी पर तारों की तरह इधर-उधर छिटक जाते हैं।

सबसे छोटा बच्चा, जो जीने के लिए भीड़ में संघर्ष नहीं कर पाता, सन्नाटा देख कर फिर खिड़की पर आ बैठता है। हाथों से छड़ पकड़ कर और पैरों को सिगनल की तरह कमरे की ओर सीधा पसार कर कहता है—म्हें म्हें म्हें म्हें!—हमें भी दो, हमें भी दो।... ..

वयस्क हो जाने पर भी विमल का मुख अब भी बच्चों-जैसा ही है। उनके बीच वह अपने ही मन का समाज पा जाना चाहता है। शिशु रह कर ही वह सृष्टि की महिमा गरिमा को शिरोधार्य करना चाहता है। पूजा के मन्दिर में यही उसका आत्मनिवेदन है—

मा ! मैं लघु से लघु होकर भी
तेरी महिमा दिखलाऊँ।
एक तारिका बन कर तेरी—
शशि-छवि अधिक बढ़ा जाऊँ!

तेरी वीणा के तारों में
एक गीति बन मँडराऊँ,
तेरी ही बन एक रागिनी
लय अनन्त में हो जाऊँ!

तेरे ही इस प्रेमसिन्धु की
एक वीचि बन लहराऊँ,
तेरी ही लीला दिखला कर
फिर तुझमें ही मिल जाऊँ!

मा ! तेरे सौरभ के वन में
एक कली-सी खिल जाऊँ,
तेरी ही माला में गुथ कर
मैं पूजा में चढ़ जाऊँ!

—०—

: २३ :

वैष्णवी के दिवङ्गत हो जाने के बाद विमल ने अनुभव किया कि उसी के साथ उसका भी सम्बन्ध संसार से छूट गया। माया-ममता से वह चिरवञ्चित रहा है, आत्मीयता का जो एकमात्र अवलम्ब थी जब वह भी चली गयी तब किस स्नेह से, किस मोह से भवसागर में बँधा रहे! उसके मन में आया कि वह फिर पहिले की ही तरह इधर-उधर घूमते हुए शेष जीवन व्यतीत कर दे। किन्तु वैष्णवी ने जो पारिवारिक संस्कार जगा दिया था वही उसके लिए लोकबन्धन हो गया। स्वच्छन्द जीवन शरीर की तरह ही समाज के सुख-दुख के छन्द से बँध गया। वह फिर किसी परिवार में ही रहने लगा......

विमल आज जहाँ रहता है वहाँ वैष्णवी कभी एक दिन के लिए भी ठहरना नहीं चाहती थी। उसका घर-द्वार तो था नहीं, विवश होकर जब कभी वह यहाँ रहने के लिए आ जाती तो एक दिन में ही वाता-वरण की वीभत्सता से ऊब जाती। कहने को तो गृहस्थों के घर बाजार की गन्दगी से दूर हैं किन्तु धर्म्मशालाओं की तरह ही उनमें भी मानव-स्वभाव की मलिनता और असंस्कारिता का जमघट है। मनुष्य के भीतर जो फूहड़पन है, वही तो घर-द्वार हाट बाजार में कूड़ा-कतवार बन कर दिखाई देता है।

वैष्णवी अपनी सांस्कृतिक सुरुचि से जीवन की शुचिता लकर चल रही थी, विमल अपनी कलाकारिता से जीवन की रुचिरता लेकर जी रहा था। दोनों के लिए दूषित वातावरण नारकीय अभिशाप था। वैष्णवी तो अपने चौके-चूल्हे और पूजा के मन्दिर की तरह वातावरण को किसी सीमा तक शुद्ध कर लेती थी, किन्तु विमल में यह गृह-साधना नहीं थी, वह इस अरुचिकर वातावरण में एक क्षण भी नहीं ठहर पाता था, घबड़ा कर तुरत भाग जाता था।······

भाग्य का परिहास ! विमल जहाँ रहना नहीं चाहता था, वहीं अब रहने लगा है। उसका पलायन हो पराजय हो गया।

इस स्थान का भी अपनी कहानी है। इसके साथ वैष्णवी की स्मृति तो जुड़ा हुई है ही, विमल के गोलोकवासी पिता की भी स्मृति जुड़ी हुई है। वे स्वयं तो संन्यासी थे, लेकिन गृहस्थों के योगक्षेम के लिए—समाज की बुनियाद बनाये रखने के लिए—अपने साधुहृदय का सद्भाव और सहयोग सबको देते थे।...इस गृह का स्वामी जब असमय में ही विधुर हो गया तब उन्होंने ही पुनर्विवाह करा कर उसका घर बसा दिया था।

एक दिन घर के स्वामी का भी जब देहावसान हो गया तब पुत्र-कलत्र और धन-धाम के रहते हुए भी यह घर मरघट हो गया। लड़के न कुछ पढ़-लिख सके और न कोई काम-काज सीख सके। खा-पीकर पिता की सम्पत्ति समाप्त हो गई। न तो अब पुश्तैनी ब्राह्मणवृत्ति (दान-दक्षिणा) चल पाती है और न इस बेकारी के जमाने में कोई रोजी मिल पाती है। घर में न लक्ष्मी है, न गृहलक्ष्मी। अशिक्षा, असंस्कारिता, दरिद्रता, अकर्मण्यता, लोलुपता और वञ्चकता का यहाँ प्रगाढ़ अन्धकार है।

अकेले क्या इसी घर का यह हाल है। यह तो सारे भारत का ही एक खण्डचित्र है। अखबारों में आये दिन देश की दुर्दशा का जो समाचार छपता रहता है उसी का प्रत्यक्ष प्रमाण इस घर में भी

मिलता है। शिक्षा, संस्कृति, वैभव की दृष्टि से ऊँचाई पर दिखाई देने वाले प्रासादों में भी तो अन्धकार का प्रसार है। उदयाचल भी अस्ताचल हो गया है। वहीं का अन्धकार नीचे फैला हुआ है। दूसरे महायुद्ध के दिनों में युगों का जो तामसिक संस्कार सारे देश पर, सारे संसार पर ब्लैक आउट (तमावरण) बन कर छाया हुआ था वह आज भी दूर नहीं हुआ है।

जीवन का पथ यदि कुसुमित और आलोकित होता तो फिर साधना की क्या आवश्यकता रह जाती!—'हँसी-खुशी से पिउ मिले कौन दुहागिन होय।'

अपनी रुचि, स्वभाव और भाव के अनुरूप वातावरण न मिलने पर भी प्रतिकूल परिस्थितियों में ही विमल ज्योति की साधना और आराधना करने लगा। जिस जनता के नाम पर बड़े-बड़े लोग दूर से नेतृत्त्व करते हैं वह उसी जनता के बीच में रह कर जड़ता को अपनी चेतना की आहुति देने लगा।

विमल भी क्या जनता जैसा ही है! जीवन की समस्याओं और आवश्यकताओं में वह उसी की सतह पर है, किन्तु उसमें जनता की दुनियादारी नहीं है। इसी लिए उसके जीवन में निर्जनता है। इस युग में जब कि सभी वर्गों, सभी वर्णों में वणिकवृत्ति और धोखा-धड़ी आ गयी है, विमल अब भी आकाशवृत्ति से ही जीने का प्रयास कर रहा है। भगवती वीणापाणि के आशीर्वाद से जो मिल जाता है उसी में सन्तोष करता है, उससे अधिक के लिए राग-द्वेष और प्रतिस्पर्द्धा नहीं करता।

लोग सोचते हैं, बहुत हाथ-पैर मारने पर भी उनके लिए जीना कठिन हो रहा है, विमल ने बहुत कमाया है तभी तो बिना किसी खींच-तान के जी रहा है।

क्या खींच-तान करके जीया जा सकता है! गज को जब ग्राह ने ग्रस लिया था तब बहुत खींचतान करके भी उस द्वन्द्वफन्द से नहीं बच सका। अपने को रामभरोसे छोड़ देने पर ही संकट से निस्तार पा गया।

विमल कैसे जी रहा है, यह वही जानता है। उसकी वेदना तो मूक पशुओं की-सी है। किससे कहे, क्या कहे—

काहू के मन की काहू न जाने
लोगन के मन हाँसी।

एक तो आकाशवृत्ति, तिस पर उसमें संग्रह की प्रवृत्ति नहीं है। जो कुछ मिलता है उसे खा जाने में तामसिक उपभोग जान पड़ता है। सोचता है—अकेला हूँ, रहूँ न रहूँ; जीवों का जगत फूलता रहे, फलता रहे। स्वयं भूखा-प्यासा रह कर अपनी आकाशवृत्ति को खेती के बीज की तरह गृहस्थों और किसानों में वितरित करता रहता है। इसमें उसे वैष्णवी की पुण्यस्मृति को श्रद्धाञ्जलि देने का सुख मिलता है।

—:*:—

: २४ :

.........उस दिन विमल जब मालती के यहाँ से लौटा तो फिर बहुत दिनों तक वहाँ नहीं गया। इस बीच मालती कई बार ससुराल से आयी और गयी। शायद ससुराल में उसका मन नहीं लगता था। नववधू को ससुराल यों ही अजनबी-सी जान पड़ती है, तिस पर वहाँ की रहन-सहन, खान-पान सब कुछ बेमेल-सा था। भिन्न जलवायु में मुरझाये पौधे की तरह वह अनमनी हो गयी थी।

विमल को अपने कागज-कलम से ही इतनी फुरसत नहीं मिलती थी कि वह कहीं आये-जाये। न कोई जीवन, न कोई मनोरञ्जन; वह तो केवल आत्मविसर्जन कर रहा था। जीने के लिए उसे एक श्रमजीवी से भी अधिक आयास-प्रयास करना पड़ता था। शरीर की भी सुध बिसर जाती थी। लेकिन मशीन भी अपनी खुराक लेकर ही चलती है, फिर शरीर तो शरीर ही ठहरा। किसी तरह दो कौर मुँह में डाल कर वह अपने काम में लग जाता।

जब घर में भोजन की व्यवस्था नहीं हो पाती तब उसका नियमित कार्य्यक्रम भी अव्यवस्थित हो जाता। बात यह है कि इस घर की स्वामिनी है जराजीर्ण वृद्धा। घर में और कोई गृहणी नहीं है। वृद्धा जब हारी-बीमारी से लाचार हो जाती है तब खाना बनाना

तो दूर रहा, उठ-बैठ भी नहीं सकती। ऐसी ही टूटी गृहस्थी में विमल को पारिवारिक प्रश्रय मिला था।

विमल को भूख-प्यास तो बहुत लगती नहीं, अभाव और शोषण से किशोरावस्था में ही उसकी जठराग्नि मन्द हो चुकी है। फिर भी शरीर को कुछ आहार तो चाहिये ही। जब घर में चूल्हा नहीं जलता तब उसे थोड़ा सा आहार जुटाना भी मुश्किल हो जाता है। पहिले की अपेक्षा स्वावलम्बी हो जाने पर भी किसी कल्याणी अन्नपूर्णा के अभाव में उसे प्रायः भूखा-प्यासा रहना पड़ता है! जब आहार का यह हाल है तब इस लोलुप संसार में विहार तो और भी दुर्लभ हो गया है। —'सुख सुहाग की सेज सजाना सहज नहीं है जीवन में!' नियति ने क्या उसे चिरअतृप्ति का ही अभिशाप दे दिया है!

यदि विमल की कोई अपनी रुचि-अरुचि नहीं होती तो उसके लिए जीवन इतना जटिल नहीं हो जाता। घर का भोजन न सही, बाजार के भोजन से पेट भरा जा सकता है। किन्तु विमल क्या बाजारू आदमी है?

.........किसी दिन मालती की माँ के अनुरोध से जब विमल ने उसके यहाँ भोजन किया तब वहाँ का घरेलू भोजन उसे रुच गया। घर की वृद्धा के शय्याग्रस्त हो जाने पर वह फिर भोजन के लिए वहीं जाने लगा।

मालती आयी हुई थी। विमल को देख कर उसने कहा—कहाँ थे इतने दिन! मैं तुम्हें पूछ रही थी।

विमल को विश्वास नहीं हुआ कि यह सदा की रूखी मालती उसे पूछ सकती है। उसने आश्चर्य और हर्ष से विस्मित होकर कहा—क्या सचमुच मुझे पूछ रही थी?

'हाँ, इनसे पूछो' —मालती ने मुस्कुराते हुए माँ की ओर इशारा कर दिया। सदा अपने में गुमसुम रहने वाली मालती इतनी मुखर कैसे हो गयी? उसकी मुस्कुराहट में कैशोर्यका सारल्य था, किन्तु

मुख कुछ विवर्ण था, मानो सारल्य और तारुण्य का संघर्ष अवसाद बन कर छा गया था।......

विमल ने जब मालती की माँ की ओर घूम कर मौन प्रश्न किया तब उससे भी कहा—हाँ, यह पूछ रही थी कि आज कल आते हैं या नहीं!

आखिर मालती क्यों पूछ रही थी? क्या विमल के लिए उसके हृदय का द्वार खुल गया था! यह क्या उसका मौन निमन्त्रण है!.......

विमल ने उस क्षणिक सहृदयता को लोकाचार से अधिक महत्त्व नहीं दिया। यहाँ बराबर आता-जाता रहा, किन्तु किसी दिन भी मालती से हिलने-मिलने का प्रयास नहीं किया। जब कभी आते-जाते अचानक उससे भेंट हो जाती तब मालती मुँह से तो कुछ नहीं कहती, हाथ हिला कर 'नहीं नहीं' कहती।

यह कैसी पहेली है! अभी उस दिन तो कहती थी, पूछ रही थी; अब यह कैसी अवहेलना है, वर्जना है! विमल तो उससे कुछ कहता नहीं था, माँगता नहीं था, फिर इस निराशाजनक उत्तर की क्या आवश्यकता थी!.......

कुछ दिन बाद मालती ससुराल चली गयी। विमल अपनी परिस्थितियों में डूबता-उतरता रहा, घर की वृद्धा के जीवन-मरण की तरह ही।....

आखिर बार-बार की असुविधा से विवश होकर विमल ने मालती की माँ के यहाँ ही भोजन का नियम बना लिया।

थोड़े दिन बाद मालती फिर आ गयी। एक दिन विमल ने उसकी माँ से पूछा—अब यह ससुराल कब जायगी?

माँ ने कहा—अब यहीं रहेगी, ससुराल से छुट्टा-छुट्टी हो गयी।

विमल ने मालती की ओर देखा—उसके मुँह पर तलाक का कोई विषाद नहीं। वह पहिले से कहीं अधिक प्रफुल्ल और स्वस्थ जान पड़ी, मानों सब संघर्ष समाप्त हो गया, वह फिर अपनी

माँ की कन्या हो गयी। कैशोर्य्य नहीं, तारुण्य नहीं, यौवन नहीं, क्या वह बालिका ही बालिका थी !

विमल ने पूछा—छुट्टा-छुट्टी क्यों हो गयी ?

माँ ने कहा—ससुराल में जात-बिरादरी का बखेड़ा लेकर झगड़ा टंटा उठ खड़ा हुआ। बहिष्कार के डर से ससुर ने मालती को यहाँ भेज दिया।

मालती का विवाह अन्तःप्रान्तीय हुआ था; लेकिन यह ऐसी बात नहीं जिससे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाय।

विमल मालती के पिता के स्वभाव को जानता था। कभी यह घर खुशहाल था। पिता के अपव्यय और विलास से घर तबाह हो गया। अपनी सम्पत्ति खोकर लड़की के ससुराल से धन खींचने का प्रयत्न करने लगा। इसी खींचातानी में मनमुटाव हो गया, दोनों ओर का सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। मालती की माँ पति के स्वभाव से खिन्न होने पर भी उसी की इज्जत के लिए झूठ बोल गयी।

आप ही आप सब बात समझ कर विमल मालती के भविष्य के लिए चिन्तित हो उठा—आर्थिक स्वार्थ की बलिवेदी पर पिता न जाने इसका कब कहाँ बलिदान कर देगा !

जिस मालती को विमल ने कभी भावानुभूति की दृष्टि से देखा था, अब उसे सामाजिक सहानुभूति की दृष्टि से भी देखने लगा। बचपन की तरह वह आज भी अभिमानिनी थी, लेकिन उसके अभिमान में अब पहिले की-सी निर्लिप्तता नहीं थी, कुण्ठित तारुण्य की प्रतिक्रिया थी।

विमल ने सोचा, बना रहे इसका अभिमान। इस अभागिनी को और सुख ही क्या है ! प्रेम के लिए यह भले ही किसी को आत्मसमर्पण कर दे, लेकिन देह के लिए कभी इसे किसी के सामने हाथ न पसारना पड़े, धन के लिए किसी के सामने इसका मस्तक न झुकने पावे। यह रंकिनी नहीं, अपने मन की रानी ही बनी रहे।

उसकी आनबान बनाये रखने के लिए लिए विमल अपना सहयोग देने लगा। जब कभी कुछ घटता तो मालती उसी को उलाहना देती। क्या वह विमल पर अपना अधिकार समझती थी!

घर में रहते-रहते जब उसका जी ऊब जाता तब कभी खिड़की से झाँक कर और कभी बरामदे में खड़ी हो कर राह में आने-जाने वालों का रेला-मेला देखने लगता। यही उसका सिनेमा था, यही उसका उपन्यास। इसी में वह अपने जीवन के कथानक को भी समझने का प्रयत्न करती थी।

कभी-कभी वह घर की छत पर जा खड़ी होती। घंटों इधर-उधर देखती रहती। मनुष्य का संसार नीचे छूट जाता, ऊपर वृक्षों का शिखर और सन्ध्या का सूना आकाश दिखाई देता। मनुष्य क्रीड़ा-तरङ्ग की तरह पतंग उड़ते, लड़ते और बिछुड़ कर अनन्त में बह जाते। क्या वहीं कहीं उसके जीवन का इतिहास लिखा हुआ था। क्या वह भी सोचती थी—'गगन मण्डल पर सेज पिया की किस बिध मिलना होय ?'

निराशा से जब वह निराश हो जाती तब उसे दूर पर हृदय की आर्द्रता की तरह गङ्गा की झलमलाती धारा दिखाई पड़ती, पक्षियों का कलरव सुनाई देता, आकाश में तारों का समारोह जीवन का उल्लास जगा जाता मन ही मन आश्वस्त होकर वह नीचे आकर घर के कामकाज में लग जाती।

राह में आते-जाते दूर से विमल जब उसे छत पर खड़ी देखता तो चारों ओर के वातावरण में वह उस ऊँचाई पर अकेली ऐसी जान पड़ती मानों नियति की हथेली पर नीलाम के लिए उठी हुई है।

क्या होगा इसके जीवन का उपसंहार!

संवेदना से विगलित विमल के मन में एक बात आयी—क्यों न वह मालती से विवाह कर ले! शायद वह उसे वैभव का सुख न दे सके, किन्तु जैसे सबके लिए वैसे उसके लिए भी अपनी सुविधाओं का उत्सर्ग तो कर ही सकता है, प्रेम की तन्मयता तो दे ही सकता है।

मालती में कोई कविकल्पित सौन्दर्य नहीं था। शिक्षा का भी अभाव था। किन्तु विमल उसके बाल्यचापल्य पर रीझा हुआ था। सयानी हो जाने पर भी उसमें शिशुता की झलक बनी हुई थी। बच्चों-जैसा मन और घर-गृहस्थी में श्रम से तपा हुआ जीवन!—अपनी साधना के लिए विमल को ऐसी ही तो सङ्गिनी चाहिये।

प्रसंगवश एक दिन उसने मालती की माँ से कहा—थोड़े से अन्न-वस्त्र के लिए इसे किसी की पराधीनता की क्या आवश्यकता है। मैं इसे अपनी गृहस्वामिनी के रूप में शिरोधार्य कर सकता हूँ।

अनिश्चित आकाशवृत्ति में विमल जिस दैवी कृपा से जी रहा था उसी के भरोसे इतनी बड़ी बात कह गया।

माँ ने कहा—मैं कुछ नहीं कह सकती, इसके पिता से पूछ कर जवाब दूँगी।

पिता अपने छक्के-पंजे में लगा हुआ था। कई दिनों बाद विमल ने जब अपनी बात दुहराई तब माँ ने कहा—वे तो राजी हैं, लेकिन... लेकिन......मालती पसन्द नहीं करती।

यह कैसी छलना!—मालती क्यों नहीं पसन्द करती! अपनी अकिञ्चनता के कारण सङ्कोचवश विमल उसकी माँ से भी नहीं पूछ सका—तुम मेरी बात से सहमत हो या नहीं। और क्या सचमुच उसके पिता सहमत हैं! क्या सचमुच मालती पसन्द नहीं करती!......

निराश हो जाने पर भी विमल पहिले की तरह ही वहाँ आता-जाता रहा। अपना सद्भाव और सहयोग देता रहा। एक दिन वातावरण को प्रसन्न देखकर माँ से पूछ बैठा—मेरा क्या कसूर है? मालती क्यों नहीं पसन्द करती?

माँ ने कहा—कसूर कुछ भी नहीं है। उमर ज्यादा है।

अब विमल भला क्या कहे! कब उसकी उमर कम थी, कब ज्यादा हो गयी! इसका हिसाब तो उसने कभी लगाया नहीं। जैसा वह पहले था वैसा ही अब भी है—न सावन सूखा न भादों

हरा। बूढ़े उसे बच्चा कहते हैं, बच्चे उसे बोदा कहते हैं। वह न तो वृद्ध है, न बालक ; वह तो अनायु आत्मा है।

विमल को विश्वास था कि पढ़ी-लिखी न होने पर भी मालती उसे भीतर से समझ सकती है। इसीलिए उसने कहा—मुझ जैसों की आयु नहीं देखी जाती। उमा ने क्या शिव की देह और आयु देख कर विवाह किया था।

—यह किस युग की बात विमल किस युग में कह गया! वह है तो उसी युग का प्राणी तभी तो काल का प्रभाव उसकी आयु पर, स्वभाव पर नहीं पड़ सका।

मालती क्या आयु के कारण ही उसे पसन्द नहीं करती? लेकिन जब वह किशोरावस्था में था उस समय भी किसी ने उसे कहाँ पसन्द किया!

वह समझ गया—आयु का सम्बन्ध आय से है। जिनके पास धन है, साधन है, उनका वृद्ध-विवाह भी होता है। इस युग के अर्थशास्त्र में आबाल-वृद्ध-बनिता सबका जीवन बाजारू सौदा हो गया है—

"चाँदी-सोने की आशा पर अन्तस्तल का सौदा,
हाथ-पाँव जकड़े जाने को आमिषपूर्ण मसौदा।"

—:*:—

: २५ :

नारी को लोग रहस्यमयी कहते हैं। ऐसा कहते समय उनका अभिप्राय यह रहता है कि उसके मन की थाह नहीं मिलती। मानसिक दृष्टि से वह अवगुण्ठित है, गूढ़ पहेली है। क्या सचमुच?

विमल ने इस भीतरी दृष्टि से न कभी नारी को देखा और न कभी दुनिया के अन्य लोगों को। नयी आँखें थीं, नयी इन्द्रियाँ थीं, नयी चेतना थी, नयी प्रेरणा और नयी धारणा-शक्ति थी। इसीलिए संसार में जो कुछ शोभन-अशोभन है, वह उसके नये कोरकों से कोरे हृदय में बाहर से भी प्रतिफलित और प्रतिबिम्बित हो जाता था। जहाँ मन बहुत सङ्कुल और शङ्कालु रहता है वहाँ मनुष्य अपनी ही जैसी जटिलता को दूसरों के भीतर देखने का प्रयत्न करता है, अपनी ही पङ्किलता को रहस्य बना कर सबके भीतर झाँकता है। दर्पण पर जब धुंध छा जाता है तब जो कुछ सहज सुस्पष्ट है वह भी रहस्यमय बन ही जाता है।

विमल आज भी इस भीतरी दृष्टि (अन्तस्थ दृष्टि) से संसार को देखने की आवश्यकता नहीं समझता। आज भी उसके अन्तःकरण का दर्पण साफ-सुथरा है। दुनिया का धुंध-गर्द उसके श्रद्धालु आँसुओं से धुलता गया है, बाहर जो कुछ दीप्तिमान था वही ज्योति में ज्योति बन कर समाता गया है।....

कभी नारी को ही रहस्यमयी कहा जाता था। अब कहानियों में, उपन्यासों में, नाटकों में, लेखों में तरह-तरह की मनोवैज्ञानिक विचित्रताओं से स्त्री-पुरुष सभी के स्वभाव का रहस्यपूर्ण चित्रण और गम्भीर विश्लेषण किया जाता है। विमल कहता है—जिस युग में सभी लोग अपने-अपने पशु-शरीर को जिलाने के लिए जूझ रहे हैं उस युग में इतने अधिक मनोविज्ञान की क्या आवश्यकता है !

स्त्री-पुरुष सबकी मनोवृत्ति एक है, अतः सबके चरित्र का मनोविज्ञान भी एक है—दाम, काम, चाम। जहाँ मनुष्य के स्वार्थ पर आँच आती है, उसकी चमड़ी जलने लगती है, वहाँ वह अपना आपा खो देता है; बाहर के आडम्बर में, वेश-भूषा के आवरण में भी अमर्य्यादित हो जाता है।

विमल में भी देह की दुर्बलता है। लेकिन उसकी दुर्बलता किसी कृत्रिम आवरण से ढँकी-छिपी नहीं है, अपने बाहर-भीतर अच्छा-बुरा वह जैसा भी है सबके सामने खुला हुआ है, उघरा हुआ है। फिर भी नंगा नहीं, दिगम्बर है।

भीतर की जो चेतना बाहर भी दिशाओं की तरह सूक्ष्म होकर देह का दिगञ्चल अथवा द्रौपदी का अनन्त दुकूल बन गया है, सीमा की असीमता और दृश्य को अदृश्य का आभास दे रही हैं, उसी क साधना स्थूल की मर्य्यादा है, जड़ता की सजीवता है, देह की दिगम्बरता है। विमल जीवन के इस स्वरूप को पहिचानता है। उसी से तद्रूप हो जाना चाहता है।

अपने पशु शरीर में वह प्राकृत प्राणी है, अपनी चेतना में सुसंस्कृत आत्मा। उसकी दिगम्बरता में यथार्थ की वास्तविकता और आदर्श की आत्मव्यञ्जना है। एक साधन है, दूसरा साध्य। विमल साध्य के प्रति सजग है।

मनोविज्ञान की तरह इस युग में आत्मज्ञान भी बहुत दुरूह हो गया है। किन्तु विमल वस्तुसत्य और सूक्ष्म सत्य को अलग-अलग करके निरर्थक उलझन में नहीं पड़ता। जड़वादी न होते

हुए भी वह अनुभव करता है, देह के सगुण बन्धन में चेतन जब तक बँधा है. शरीर केवल शव नहीं हो गया है, तब तक देह के द्वारा ही विदेह आत्मा की साधना की जा सकती है । वह दुर्बलताओं का तिरस्कार नहीं करता, यदि वे न हों तो फिर साधना की क्या आवश्यकता, जीवन की ही क्या आवश्यकता ! ज्यों ज्यों साधना चेतना को स्वायत्त करती जाती है त्यों-त्यों शरीर भी दिव्यरूप धारण करता जाता है । इसी दिव्यरूप के कारण शिव की विद्रूपता भी शोभन जान पड़ती है।

यही दिव्यरूप कला का शोभा-शृंगार लेकर भव्य सौन्दर्य्य भी हो जाता है, तब दिगम्बर ही पीताम्बर भी बन जाता है, नटराज ही नटनागर हो जाता है, शिव ही मनमोहन श्यामसुन्दर बन जाता है ।

उस ललित-कलित लीलापुरुष की क्रीड़ारसिकता देखिये, कौतुकवश उसने गोपियों का चीरहरण कर लिया था ! किस लिए? क्या वह दुःशासन था? नहीं, वह कलाकार था । वह देखना चाहता था कि नारी केवल देह ही है या उसमें चेतना की चारुता भी है । अरे, लोल लहरियों में दोलित-हिल्लोलित छवि की वे दिगम्बरी अप्सरियाँ सङ्कोच से सिमट कर बिना परिधान के अपनी स्वाभाविक लज्जा में ही अवगुण्ठित हो गयी थीं । आत्मचेतना ही उनकी मर्य्यादा बन गयी थी।

यदि दृष्टिकोण कुत्सित नहीं है तो कला में नग्नचित्रण को बिमल बुरा नहीं मानता । चित्रों के किसी अंगरेजी अलबम में उसे नारी का एक नग्नचित्र बहुत भा गया था । फ्रेम में मढ़ा कर अपने कमरे में उसे भी स्थान दे दिया था। उसमें अश्लीलता बिलकुल नहीं थी। सरल, उज्ज्वल, निरीह, निष्कलुष आत्मा ही देह हो गयी थी। वह नारी नहीं, दिग्वसना देवी जान पड़ती थी। उस शारदीया सुषमा में प्रकृति ही हिमकन्या हो गयी थी । मुस्करा कर लोगों के मौन जिज्ञासा करने पर विमल अतीन्द्रिय भावना को जगाने के लिए कह देता—यह वर्डस्वर्थ की लूसी ग्रे है ।

विमल की भावुकता देखिये। कहता है—कृष्ण ने जैसे गोपियों की नग्नछवि देखी थी वैसे ही क्या ग्वालबालों का दिगम्बर रूप नहीं देखा जा सकता ! कला की वात्सल्यदृष्टि से कवि ने उसे भी देखा है—

> "सुन्दर लगती नग्न देह, मोहती नयन-मन,
> मानव के नाते उर में भरता अपनापन।"

सृष्टि में जो कुछ निसर्ग-सुन्दर है उसे उसके अविकल रूप में देखना-अपनाना ही विमल की हाबी है। यही उसकी सौन्दर्यो-पासना है, यही उसकी कलानुरागिता है।

बचपन में विमल को खुशखत का शौक था। सौन्दर्य्य में भी वह किसी शिल्पी की सुलिपि की ही सुषमा देखता आया है। इसीलिए विक्षिप्त और अभिभूत होकर उसे पाने और अपनाने के लिए दौड़ता भटकता रहा है। निराश होकर ग़म गलत करता रहा है। अब इतने दिनों के अनुभवों से जान गया है कि वह सब छल था, विभ्रम था, कनकमृग था—'जड़ता की सब माया थी चैतन्य समझ कर हमको।'

इस युग में जब कि सबकी प्रवृत्ति चाम-काम-दाम की ओर ही हो गयी है, मनुष्य का प्रकृत रूप भीतर से विकृत हो गया है, तब बाहर की मुखाकृतियों में हम किसे सुन्दर कहें, किसे असुन्दर। एक्सरे से जिस तरह मनुष्य के भीतर के शरीर का चित्र लिया जाता है उसी तरह यदि उसके मन का भी चित्र लिया जा सके तो देखा जा सकता है कि बाहर की लिपियों में सुन्दर-असुन्दर, शिक्षित-अशिक्षित सभी की भीतरी मुखा-कृतियाँ (मानसिक प्रवृत्तियाँ) एक-सी ही कुत्सित, कुरूप और कराल हैं।

कला की दृष्टि से विमल अब भी सौन्दर्य्य को चाहता है, किन्तु उसके पीछे आत्मविस्मृत होकर दौड़ता नहीं। उसमें स्थितप्रज्ञता आ गयी है। सोचता है, जिस सौन्दर्य्य में आत्मा है उससे अनायास ही आत्मीयता हो जायगी।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य का मन विमल के लिए न तो पहिले रहस्यपूर्ण था और न आज रहस्यपूर्ण है। हाँ, शरीर उसे अब भी रहस्यपूर्ण जान पड़ता है। उसे देख कर उसके स्रष्टा के प्रति वह जिज्ञासु हो जाता है। किसने बनाया है शरीर को? यदि मनुष्य या कोई अन्य देहधारी ही अपने शरीर को बनाता है तो जैसे नख से शिख तक उसकी इन्द्रियों में एकता है, वैसे ही सबके खान-पान, रहन-सहन, बनाव-शृङ्गार में भी एक सङ्गति होती, एक अन्विति होती, एकरूपता होती। सुसंस्कृत और असंस्कृत दोनों की प्रवृत्तियों में इन्द्रियों की तरह ही एक तारतम्य होता, न एक सुघड़ जान पड़ता न दूसरा फूहड़।

सृष्टि में केवल मनुष्य ही नहीं, आकाश-पाताल-धरातल पर और भी न जाने कितनी योनियों में कितने जीव हैं, कितने दृश्य हैं, कितने अदृश्य हैं। कौन है, इन सबका स्रष्टा? कौन है वह परम चेतन जो नाना रूपों और नाना क्रियाओं में व्यक्त हो रहा है?

विमल उस अज्ञेय को समझ नहीं पाता। फिर भी उसकी जिज्ञासा का समाधान मुग्धता से हो जाता है। सृष्टि में जो कुछ सुन्दर और सहृदय दिखाई पड़ता है उस पर मुग्ध होकर वह कला में कलाकार को, सृष्टि में शिल्पी को ही देखता और प्यार करता है। कवि के शब्दों में वह भी यही कहता है—

"मुझे रूप
प्राण! रूप ही मेरे उर में
मधुर भाव बन जाता।
मुझे रूप ही भाता।

:o: :o: :o:

प्राण! रूप का सत्य
रूप के भीतर नहीं समाता।
मुझे रूप ही भाता।"

—:*:—

: २६ :

सहृदय वाचकवृन्द क्षमा करें, कहानी कहीं-कहीं नीरस हो गयी है, भावुक विमल चिन्तनशील विचारक भी हो गया है। सरसता के लिए जिस सामाजिक जीवन की आवश्यकता है वह विमल को मिला नहीं। कहानी के लिए, कविता के लिए, कला के लिए रस का जो प्रवाह चाहिये आज उसी का तो सर्वत्र अकाल पड़ गया है। जिन कारणों से कविता, कला, संस्कृति के लिए युग बंजर हो गया है उन्हीं कारणों से विमल का जीवन पहिले से ही सूखता आ रहा है, मानों युग की वास्तविकता का अग्रिम आभास देता रहा है।

कभी अनजान वय की अबोधता में उसने सृष्टि से कुछ सरसता जुगो ली थी—बचपन के रसाल वन की मधुरता, ग्रामीण बालक-बालिकाओं की तरलता-चपलता, चिड़ियों की कलरव-मुखरता, खेतों की रंग-बिरंगी मनोहरता, सरिता की सजलता, इन सबने उसके हृदय को सरल-कोमल-प्रेमल बना दिया था। शैशव के जाते-न-जाते उसी के प्रस्फुटित स्वभाव की सात्त्विक साधना वैष्णवी के व्यक्तित्व में सजीव होकर संस्कृति की झलक दे गयी

"बस गयी एक बस्ती है
स्मृतियों की इसी हृदय में,
नक्षत्र-लोक फैला है
जैसे इस नील निलय में।"

कविता में, कला में, संस्कृति की चेतना में विमल अतीत की उन्हीं सुखद स्मृतियों को चिरसाकार देखना चाहता है। जीवन के मरुस्थल में उसकी रसात्मकता बाहर से सूख कर भीतर अन्तःसलिला की धारा बनती जा रही है।

विमल को अब भी बचपन के खेल-खिलौने अच्छे लगते हैं। चिन्ताग्रस्त व्यस्त जीवन में वह खेल तो नहीं पाता, लेकिन बाल्यक्रीड़ा के प्रतीक के रूप में अब भी पतंग, चकडोरी, फिरहरी, पिपिहरी, और न जाने क्या-क्या बचकाने खेल-खिलवाड़ की चीजें उसके कमरे में इधर-उधर रखी हुई हैं। ये सब हल-बैल और दस्तकारी के जमाने की चीजें हैं, वैज्ञानिक युग के पहिले के शैशव की धरोहर हैं, मानों युग-प्रवास से विमल के लौट आने की प्रतीक्षा कर रही हैं।

थका-माँदा विमल जब घर से बाहर निकलता है तब लड़कों को खेलते देख कर कुछ देर उन्हीं में विलम जाता है। उनका लट्टू नचाना और पतंग उड़ाना देखता है। उसे देख कर वे उसके साथ भी कौतुक करने लगते हैं, मानों वह भी उनके खिलवाड़ का खिलौना है। विमल जब उन्हें प्यार करना चाहता है तब वे सूर के श्याम की तरह दूर छिटक जाते हैं। क्या वे व्रजबाल हैं ? नहीं; वय से से ही लड़के हैं, बुद्धि से भोले नहीं। माँ के गर्भ से इस विषम युग की वक्रता लेकर उत्पन्न होते हैं। विमल का उनके साथ मेल नहीं बैठता। वह कुट्टी कर लेता है।

विमल सोचता है—व्यापारिक युग के पहिले मनुष्य में जो सहज स्वाभाविक सामाजिक हृदय था वही उसके शैशव में जन्म लेता रहा है। अब शैशव का सारल्य और सौन्दर्य्य लुप्त होता जा रहा है। नयी पीढ़ी उत्तरोत्तर भोंड़ी होती जा रही है।

अपनी शिशुबुद्धि के कारण विमल बड़ों में खप नहीं पाता, अपनी वयस्कता के कारण छोटों में भी नहीं खप पाता। इस तरह कटपीस की तरह वह समाज का फालतू अंश हो गया है।

आप कहेंगे, विमल में व्यावहारिक सन्तुलन नहीं है। मैं भी आपसे सहमत हूँ। किन्तु जिस समाज में छोटे-बड़े सभी लोग युग की प्रवञ्चना लेकर चल रहे हैं, लोकछलना के साथ-साथ आत्मछलना कर रहे हैं, उसमें वह कैसे किसके साथ सन्तुलित और समरस हो जाय! मन का समाज और मन का मनुष्य न मिलने के कारण उसका मन उखड़ा-उखड़ा रहता है, इसीलिए कहीं जम नहीं पाता, किसी में रम नहीं पाता। फिर भी राह में आते-जाते वह सबसे हँस-बोल लेता है, कुछ क्षण हिलमिल लेता है, उनका दिल बहला देता है। यह उसका बाल्यसारल्य है। किन्तु इस सारल्य के भीतर नीरव गम्भीर अवसाद है—

"सागर की लहर-लहर में
है हास स्वर्ण किरणों का,
सागर के अन्तरतल में
अवसाद अवाक् कणों का।"

लोग उसकी गम्भीरता तक तो पहुँच नहीं सकते, उसके सारल्य का उपहास करके अपनी उथली प्रवृत्ति (छिछली मनोवृत्ति) का परिचय दे देते हैं। जो स्वयं उपहास्य हैं वे परिहास करना क्या जानें! जिनमें सहानुभूति नहीं, उनमें रसानुभूति कैसे हो सकती है!

* * *

विमल को कभी तरह-तरह के रंगीन कपड़े पहिनने का शौक था। चेतना की चाँदनी-सी श्वेत खादी ही हरे-नीले-गुलाबी फूलों की की पङ्खड़ियों की तरह रङ्गीन हो जाती थी, मानों उस शुभ्र हंस का कलेवर कला की मयूर-छटा से भी आच्छादित हो जाता था।

अपनी कोमल-कलित-ललित रुचि में आकर्षित होकर एक बार विमल ने ऐसा वास्कट पहन लिया जो अपनी रङ्गीनी में स्त्रियों की चोली की तरह भड़कीला और फबीला था। उसे देखकर रङ्गों का चित्रकार

इन्दुमोहन विस्मित स्मिति से मुस्करा पड़ा। मानों कहता हो, यह क्या ख़ब्त है! पास बैठे एक विशेषज्ञ मित्र ने कहा—यह ख़ब्त क्षम्य है। फ्रान्स में पुरुष लोग कभी-कभी औरतों के शौक की चीजें भी पहन लेते हैं।

विमल तो देशी देहाती आदमी है, उसे किसी फ्रान्स या इंगलैण्ड के साजशौक़ का क्या अता-पता! अपनी मौलिक रुचि से ही कभी-कभी वह ऐसी बातें ऐसी हरकतें कर जाता है जो उपहास्य जान पड़ती हैं! किन्तु उसकी सभी बातों और सभी हरकतों की कहीं न कहीं कोई न कोई तुक जरूर रहती है जो अजनबियों की समझ में नहीं आती। अपनी ही समझ की चूक से वे विमल की खिल्ली उड़ाते हैं। यदि वे ठीक से समझ लें तो उसके जीवन में जो कुछ उपहास्य जान पड़ता है वही उल्लास्य जान पड़ने लगेगा।

क्या पुरुषों में स्त्रियों के शौक की चीजों का रिवाज फ्रान्स में ही है? वह तो सभी देशों में युगों से चला आ रहा है। अपने यहाँ ताण्डव के नटराज शङ्कर ने जब लास्य नृत्य को अपना लिया था तब उन्होंने कला में नारी के योगदान को भी स्वीकार कर लिया था, अङ्गीकार कर लिया था; तभी तो वे अर्द्धनारीश्वर हैं।

अपनी चित्रकला में इन्दुमोहन भी तो अर्द्धनारीश्वर है। फिर विमल के जैकेट को देख कर विस्मित क्यों हो गया था, वह तो उसी की सुकुमार आत्मा का सुन्दर सुरँग परिधान था। बात यह है कि उसकी रोमान्टिक रुचि में नारी की आंग्ल सुषमा है। इस सुरुचि में अन्तर्राष्ट्रीयता है।.......

कभी रँगीले कपड़े पहननेवाला विमल अब वेशभूषा की ओर से उदासीन होता जा रहा है। इन्द्रधनुष की रंगीनी चली गयी, हिमानी-सी धोली खादी में आत्मा की सादगी ही शेष रह गयी। असल में असन की तरह वसन से भी वह वीतराग हो गया है।..... धुले कपड़े पड़े रह जाते हैं, वह हफ्तों मटमैले (फिर भी नियमित गङ्गास्नान से पवित्र) कपड़े पहिने ही घर में, बाजार में, कभी सभा में,

समारोह में, सब जगह अगजग से तटस्थ दिखाई देता है। कभी नंगे बदन और चलनी की तरह झाँझर फटा पाजामा पहिने ही घर से निकल पड़ता है।

फटी-टूटी चीजों की मरम्मत कराने की ओर भी उसका ध्यान नहीं है। बेंत और बाँस से बनी कुर्सी और किताबों की आलमारी उसकी जिन्दगी की तरह ही ढीली हो गयी है, उखड़-पुखड़ गयी है। कारीगरों को नये फर्नीचर बना देने के लिए कई बार वह पेशगी दे चुका है। लेकिन न तो तगादा करता है, न चीजें मिलती हैं। लोग अपना रोना रोकर उधार माँग ले जाते हैं, लौटाते नहीं। उनसे भी तकादा नहीं करता।

जिन्दगी की जरूरतों का ही नहीं, दिनरात का भी अस्तित्त्व उसके लिए नहीं रह गया है। उसकी साँसें अपने आप चलती हैं, इसलिए चल रही हैं। देह में यदि घड़ी की तरह चाभी लगानी पड़े तो वह चाभी लगाने की झंझट में नहीं पड़ेगा। कमरे में एक कैलेण्डर टँगा है, लेकिन उसे तारीख बदलने की भी फुरसत नहीं है, दिलचस्पी नहीं है। दुनिया का सब कुछ भूल कर वह अपने में ही डूबा रहता है, अपने में ही खोया रहता है।

उसमें अब भी कलात्मकता है, रसात्मकता है, फिर यह अन्य-मनस्कता क्यों? क्या वह सोचता है—जब जीवन में कोई रागवती ही नहीं है तब किसके लिये वह रागरञ्जना करे! अरे, वह तो कवि है, स्वान्तःसुखाय भी तो साज-शृङ्गार कर सकता है।

स्वान्तःसुखाय के लिए भी उसे अवकाश नहीं है, उत्साह नहीं है। बात यह है कि बाहर जीने का साधन जितना ही महँगा हो गया है (जीवन दुर्लभ हो गया है), उसका चिन्तन और परिश्रम उतना ही बढ़ गया है। अपनी भाराक्रान्तता में उसे असन-वसन-जीवन की सुध-बुध नहीं रह गयी है। किसी तरह जीने की लाचारी को झेल रहा है। कलात्मकता और रसात्मकता उसके भीतर ही समाहित हो गयी है। कोई ऐसी अनुरागवती नहीं जो उसे उसकी

समाधि से जगा कर उठा दे, अपने आकर्षण से सृष्टि की भी ओर आकर्षित कर दे। एक ममतामयी वैष्णवी थी जो भोजन में देर-सबेर हो जाने पर उसे टेरती थी, पुकारती थी, अब वह कहाँ है! वही तो विमल के उस जन्म की माँ, इस जन्म की दीदी, अगले जन्म की इष्टदेवी थी।........

स्वभाव में काव्य की सरसता होते हुए भी उसके जीवन में संयम की इतनी शुष्कता आ गयी है कि वह यह भी भूल गया है—सृष्टि में नारी भी है, सौन्दर्य भी है, कला भी है, आनन्द भी है! इसका यह मतलब नहीं कि वह इन चीजों से ऊपर उठ गया है। वह तो इतना दुर्बल है कि भूख-प्यास लगने पर अपनी सुरुचि के प्रतिकूल कदन्न और कुरूप को भी अभावे शालिचूर्णम् की तरह ग्रहण कर लेता है!

एक दिन की बात सुनिये। काम करते-करते दोपहर बीत गया। पेट को खाद-पानी देने के लिए बाजार गया। बाजार में खाना-पीना जैसा मिलता है वह जगजाहिर है। फिर इस समय तो बासी-तिबासी चीज भी नहीं मिलती। संयोग से सिनेमा हाउस के गेट पर खोमचा लगाये हुए चाटवाला बैठा था। वह इस समय यहाँ कैसे पहुँच गया! शायद मैटिनी शो था। विमल लोगों के उकसाने पर सिनेमा तो साल दो साल में कभी देख लेता है, लेकिन चाट से उसे बेहद नफरत है। वह कहता है—बाजारू दूकानों की गन्दगी का म्यूजियम यदि कहीं एक जगह देखना हो तो चाट की दूकान देख लो। जहाँ संस्कृति का बोध नहीं है, वहाँ खान-पान में रसबोध भी कैसे हो सकता है। फिर भी उस दिन भूखा विमल चाट की दूकान पर बैठ गया। सोचा, खाकर गरम दूध पी लूँगा। लेकिन पहला गुलगप्पा हाथ में लेते ही उसका मुंह बिचक गया—गुलगप्पे में किसी नन्हें से जीव की बारीक टाँग तैर रही थी। फटकारने पर चाटवाले ने कहा—बाबूजी, यह जीरा है ··· विमल को विश्वास नहीं हुआ। दूसरा गुलगप्पा लिया। उस गुलगप्पे में

उसी जीव की सफेद धड़ तैरती मिली ! विमल खिन्न होकर बिना खाये ही चला गया।

अब आप समझ सकते हैं कि उसके जीवन में शुष्क संयम क्यों आ गया है। उसका संयम तो अभावजन्य है, किन्तु अभाव का कारण अब उसकी सुरुचि है, संस्कारिता है। गृहत्यागी संन्यासी जिस संयम को यम-नियम से साधते हैं, वह संयम कलानुरागी विमल की परिस्थिति और परिष्कृत रुचि (संस्कृति) से ही अनायास सध गया है।

... ...

विमल में देह की दुर्बलता (भूख-प्यास) है, मन की मलिनता नहीं; इसीलिए वह विमल है। अपने नाम के अनुरूप ही सब में विमलता देखना चाहता है। किन्तु उसे कहीं भी जीवन की शुद्धता नहीं मिलती। लोग पशुओं की तरह खाते है, उन्हीं की तरह मल-मूत्र का विसर्जन करते हैं। अपनी दुष्प्रवृत्तियों से वातावरण को दूषित करते हैं।

विमल के जीवन का यह कैसा अभिशाप है कि जिन चीजों से जिन लोगों से उसे उपराम है, विरक्ति है, उन्हीं से जीने के लिए उसे काम पड़ता है; न चाहते हुए भी बरबस उन्हें चाहना पड़ता है, क्योंकि आर्थिक प्रणाली इतनी दूषित है कि जीवन की सुविधाएँ कुरुचिपूर्ण लोगों के हाथों में ही चली गयी हैं।

जनता सत्ताओं से स्वार्थ-संघर्ष करती है, विमल जनता की जड़ता से सांस्कृतिक संघर्ष करता है। जैसी सत्ता है वैसी ही जनता है, अतएव विमल का संघर्ष अप्रत्यक्ष रूप से सत्ता से भी संघर्ष है। उसके सांस्कृतिक संघर्ष में राजनीतिक अथवा आर्थिक संघर्ष प्रच्छन्न है।

अपने क्षुद्र स्वार्थों के लिए संघर्ष करने वाली जनता कैसी जड़ है, कितनी असंस्कृत है, यह उसके प्रतिदिन की रहन-सहन को देख कर जाना जा सकता है।

बहुत दूर जाने की जरूरत नहीं। विमल के कमरे के सामने जो सार्वजनिक नल है वहीं का दृश्य देख लीजिये। वहाँ लोग दातुन करते हैं, कपड़े धोते हैं, नहाते हैं, पानी भरते हैं। सारा काम ऐसे बेढंगे तरीके से करते हैं कि नल का वातावरण पाखाने और पेशाबखाने की तरह घिनौना हो जाता है। वह केवल नल नहीं, सबकी कुरुचि और असंस्कारिता का केन्द्रबिन्दु बन गया है। लोग इधर-उधर गन्दे दातुन फेंक देते हैं। थूक-खखार कीचड़ की तरह फैला देते हैं। सोचते हैं, अपना काम तो चल गया, दूसरे लोग उनकी गन्दगी भुगतते रहें। झख मारते रहें। लेकिन दूसरे लोग भी तो ऐसा ही सोच सकते हैं। यही तो इस युग की विभीषिका है कि व्यक्ति समाज नहीं बन सका है।—'एकोऽहम् द्वितीयो नास्ति' हो गया है, अपनी सुविधा के लिए दूसरे की सुविधा नहीं देखता और खुद भी असुविधा का शिकार हो जाता है।

कैसा गन्दा, फूहड़, यहाँ का वीभत्स दृश्य है! विमल को भी इसी नल से काम चलाना पड़ता है। लोगों की सुरुचि से उसकी सुरुचि को ठेस लगती है। वह जब झुँझलाता है, नाक-भौं सिकोड़ता है, भर्त्सना करता है, तब लोग उससे मुठभेड़ करते है, बेवकूफ बनाते हैं। ऐसे ही लोग अपनी समझदारी का परिचय उसका उपहास करके देते हैं।

विमल तो शान्त हृदय है, लेकिन लोगों की गन्दी आदतें असह्य हो जाने पर चिढ़ जाता है। लोग अपनी गलती तो महसूस नहीं करते उलटे उसी को आव-ताव दिखाते हैं। कहते हैं—सफाई करना भंगी का काम है, वह कर लेगा।

भंगी को क्या गरज है कि वह सबकी लापरवाही को माता की तरह झेलता रहे। उसे तो अपनी तनख्वाह से मतलब है। वह ठीक काम करेगा तब भी तनख्वाह पायेगा, बेठीक काम करेगा तब भी तनख्वाह पायेगा। तनख्वाह न मिलने पर या कम मिलने पर हड़ताल कर देगा। मजदूरों के नेता उसका साथ देंगे ही।

क्या ऐसी ही चित्तवृत्ति सभी कर्म्मचारियों की नहीं हो गयी है ? क्या अकेले भंगी ही गैरजिम्मेदार है ? जिनसे सुरुचि और संस्कारिता की आशा की जाती है जब उन्हीं में उनका अभाव है तो फिर भंगी को ही दोष क्यों दिया जाय, वह तो भंगी ही ठहरा !

संस्कारिता की दृष्टि से शिक्षित-अशिक्षित, धार्म्मिक-अधार्म्मिक, भद्र और अभद्र, सभी बहुत भद्दे हो गये हैं। बाहर का पहनावा उनका अच्छा-बुरा साइनबोर्ड मात्र रह गया है। भीतर सबका मन मलिन और निश्चेतन है। वे मनुष्य नहीं, केवल मांसपिण्ड हैं, मरघट के प्रेत हैं।

लोग रिवाज के तौर पर दातुन करते हैं दाँत साफ करने के लिए। लेकिन मन के मार्जन की आवश्यकता नहीं महसूस करते। दातुन न करने से जैसे भोजन विषाक्त हो जाता है, वैसे मन का परिमार्जन न करने से जीवन भी विषाक्त अथवा तामसिक हो जाता है।

लोगों के निश्चेतन मलिन मन की गन्दगी ही घर-द्वार, हाट-बाट-घाट सर्वत्र फैली हुई है।

जैसी लोगों की जड़मति है वैसी ही उनकी अन्धगति है। गन्दगी से ही नहीं, लोगों की रफ्तार बेढंगी से भी जीवन का पथ दुर्गम हो गया है। राह में चलना झाड़-झंखाड़ और हिंस्र पशुओं से भरे जंगल में चलने के समान भयावना हो गया है। सामाजिकता की तरह ही लोगों में नागरिकता भी नहीं है। पैरों से चलते हुए भी सड़क के खम्भों की तरह अड़े-गड़े ही रहते हैं, ऐसे ऐंड़े-बैंड़े चलते हैं कि मानों सारा रास्ता उन्हीं के लिए है। तनिक-सा भी ध्यान इधर-उधर चले जाने से धक्का खा जाना पड़ता है। बस, मोटर, सायकिल और लारी की तरह ही यन्त्रवत् जड़ जनता से भी खतरा बना रहता है।

सुनते हैं, बिलायत में सामाजिकता और नागरिकता है। क्या सचमुच ? तो फिर वहाँ लोग गुस्से से बावले हो सभाओं

और जुलूसों में सड़े अण्डे और बोतल क्यों फेंकते हैं, हुल्लड़ क्यों मचाते हैं? असल में स्वभाव भीतर से कहीं भी सुसंस्कृत नहीं हो सका है। कहीं वह बेदर्द हो गया है, कहीं सभ्य (!) हो गया है।

विमल सोचता है, सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी मनुष्य इतना अधम क्यों हो गया है! उसकी चेतना निश्चल निस्पन्द क्यों हो गया है!!

उसके चिन्तन का निष्कर्ष यह है कि मनुष्य के सजीव आदान-प्रदान, नैसर्गिक सहयोग, स्वाभाविक पुरुषार्थ, हार्दिक हेलमेल, सामाजिक सौहार्द का स्थान जब से टकसाली अर्थशास्त्र ने ले लिया है तब से वह भी टकसाली हो गया है। उसकी चेतना निष्क्रिय निर्जीव हो गयी है। निष्प्राण शव की तरह ही वह नाना प्रेतलीला करता आ रहा है। किसी युग में मनुष्य आदिम वन-मानव था, फिर भी सजीव था, सचेतन था, तभी तो उसकी चेतना का विकास सामाजिकता में हो गया। अब जब चेतना ही नहीं है तब किसका विकास हो, किसका ह्रास हो!

वर्त्तमान युग की अधोगति का कारण क्या आर्थिक विषमता ही है? क्या आर्थिक समता से मनुष्य उन्नति करने लगेगा? नहीं, यदि अर्थशास्त्र निर्जीव है, कृत्रिम है तो वह सम-विषम किसी भी रूप में घातक है, चेतना पर जड़ता का भार है।

विमल देखता है—मनुष्य के वक्षस्थल पर टकसाली अर्थशास्त्र (सिक्के का अर्थशास्त्र) पत्थर की तरह, लोहे की तरह, दैत्याकार यन्त्रों की तरह बैठा हुआ है। उसके नीचे दबा हुआ मनुष्य निश्चेतन हो गया है, बेहोशी में तरह-तरह की खुरापात कर रहा है।

ऐसे जड़ अर्थशास्त्र में किसी भी क्षण कोई भी अनर्थ हो सकता है--कुछ भी असम्भव नहीं है।

जड़ अर्थशास्त्र ने सबके हृदय को लोहा-पत्थर और यन्त्र बना दिया है। उसी में सभ्यता, संस्कृति, शिक्षा, कला, नागरिकता, नैतिकता का बीजारोपण करने का निष्फल प्रयत्न किया जा रहा है!

क्या केवल जनता ही इस यान्त्रिक अर्थशास्त्र से जड़ हो गयी है ? कवि, कोविद, कलाकार, नेता सभी तो एक-से हो आत्मविस्मृत हो गये हैं। उनका अपना कोई चैतन्य व्यक्तित्व नहीं रह गया है। वे बहुरूपिया हो गये हैं। जब जैसा अवसर देखते हैं तब तैसा अभिनय करते हैं।

जहाँ मनुष्य भीतर से मर गया है, अन्तःकरण अनुर्व्वर हो गया है, मनोभूमि वन्ध्या हो गयी है, वहाँ बाहर के किसी भी आस्फालन से चेतना का जागरण नहीं हो सकता। न तो स्वच्छता के आन्दोलन से संस्कारिता आ सकती है और न छात्रों के नियन्त्रण से अनुशासनप्रियता। यदि रचनात्मक कार्य्य नहीं किया गया तो ये सब प्रयत्न औपचारिक प्रयास मात्र रह जायँगे।

विमल कहता है--मनुष्य के वक्षस्थल पर से जड़ अर्थशास्त्र का भार हटा दो, उसे होश में आने दो, अपनी स्वाभाविक गति-मति से भूलने दो, भटकने दो, वह फिर अपना सही रास्ता पा जायगा।

हमारे युग का एक ही नारा हो सकता है—अर्थशास्त्र को प्राणान्वित करो, सिक्के को हटाओ, मनुष्य के नैसर्गिक पौरुष का, स्नेह का, सहयोग का, उत्पादन का अर्थशास्त्र (श्रमशास्त्र) चलाओ, नगरों को देहात बनाओ, प्रकृति से उसके पुत्रों को हिलने दो, मिलने दो !....

विमल का यह अराजकतावादी स्वर तो पहिचाना हुआ जान पड़ता है, यही तो इस युग का मसीहा गान्धी भी कहता रहा है।

....

देहात से नगर में आने पर सन् २०, के राष्ट्रीय आन्दोलन के युग में विमल का जीवन जैसा रिक्त था वैसा ही आज भी रिक्त है। वर्ष-पर-वर्ष बीत गये, इस बीच में सन् ३० और सन् ४२ के आन्दोलन भी ज्वार की तरह उठे और भाटे की तरह समाप्त हो गये। सन् ४७ में पाकिस्तान के रूप में अपना अङ्ग-भङ्ग कर देश

स्वतंत्र हो गया। स्वतंत्रता का मूल्य गान्धी को अपने बलिदान से चुकाना पड़ा।..........

मध्ययुगको सामन्तवादी कहा जाता है, आधुनिक युग को साम्राज्यवादी और पूँजीवादी। तो क्या राष्ट्रीय आन्दोलन में जो लोग गान्धी के पीछे-पीछे चले वे इस युग की शोषित-पीड़ित जनता के दुखदैन्य से द्रवित होकर ही सार्वजनिक क्षेत्र में आये थे ? नहीं; वे तो गान्धी को ढाल बना कर जनता के स्वत्व के नाम पर प्रभुसत्ता से अपने-अपने अहंकारों का संघर्ष कर रहे थे। इस संघर्ष में बलिदान गान्धी का ही हो गया, वरदान उन्हें मिल गया। अब स्वयं सत्तारूढ़ हो कर वे उन्हीं साम्राज्यवादी और पूँजीवादी सुविधाओं का उपभोग कर रहे हैं जिनका वे कभी विरोध कर रहे थे।

उन्होंने गान्धी का राजनीति पक्ष ही अपनाया था, उसका आन्तरिक (रचनात्मक) पक्ष नहीं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण खादी है। गान्धी की तरह खादी का भी अस्तित्व संकटग्रस्त हो गया है। जो कभी पटरानी थी अब इस 'स्वराज्य' (!) के युग में दासी की तरह दयनीय हो गयी है। उसे संरक्षण (!) की आवश्यकता जान पड़ती है।

विमल को राजनीति आन्दोलन से, अखबारी सनसनी से दिलचस्पी नहीं है। पहले अगजग से अनजान होते हुए भी उसे आन्दोलनों में इमानदारी नहीं मिल रही थी, क्योंकि उसका अपना जीवन ही वातावरण के स्पन्दन-कम्पन को, युग की सजीवता-निर्जीवता को माप रहा था! अब इतने दिनों के अनुभवों से वह प्रत्यक्ष देख रहा है कि उसका आत्मनिर्णय ही सत्य था, यथार्थ था! जब तीन-तीन आन्दोलनों (सन्' २०—'३०—'४२) के बावजूद, सहयोग का आधार खादी ही (जिसकी ओर इतने नेताओं का ध्यान केन्द्रित था)—अब इस स्वराज्य के युग में भी नहीं चल पा रही है तब विमल का जीवन भला क्या चल सकता है! वह भी उसी की तरह निराधार है।

भारत के पराधीन युग में जिस तरह चतुर लोग प्रभुता से स्वार्थ साध लेते थे उसी तरह तथाकथित स्वराज्य के इस युग में भी अपना स्वार्थ साध रहे हैं। सारे देश में एक नया दरबारी वातावरण बन गया है। तप, त्याग, संयम, साधना का न पहिले कोई सम्मान था, न अब है। जो सिक्के की राजनीति के अनुसार अपना स्वभाव नहीं बना सकता, अपना टिप्पस नहीं बैठा सकता, वह कौड़ी का तीन हो जाता है, जैसे विमल।

विमल तो गान्धी का 'दरिद्रनारायण' है। गान्धी ने अपना जो बलिदान दिया, वही बलिदान वह तिल-तिल शोषित होकर दे रहा है।

आन्दोलन में विमल को क्या इसलिये आकर्षण नहीं मिल रहा था (और अब भी नहीं मिल रहा है) कि उनमें उसके शून्य जीवन की कोई राजनैतिक और सामाजिक इकाई न पहिले थी, न अब है। उसकी शून्यता युग-युग की शून्यता है। स्वयं तो निर्मूल्य है किन्तु जीवन-शून्य हो कर वह सबका मूल्यांकन हो गया है। उसके तन मन के सारे सांसारिक मूल्य (लोभ-लाभ, धन-धाम, मान-सम्मान) खिसक जाने के कारण ही वह दिगम्बर है।

युग की सचाई की कसौटी विमल का ही जीवन है, जनता का जीवन नहीं; क्योंकि जनता भी उसकी अपेक्षा स्वार्थनिपुण है, छल-बल-कल से वह अपना स्वार्थ साधना जानती है। विमल जनता से भी अधिक जनता है।

विमल देखता है—शोषक और शोषित, शिक्षित और अशिक्षित, सभी उसके प्रति बर्बर हैं, निष्ठुर हैं। क्या वह भी उन्हीं की तरह अपना स्वभाव बना ले? क्या शोषण और हिंसा ही सृष्टि का सनातन नियम है?.......

रह-रह कर विमल को वैष्णवी की याद आ जाती है। वही तो उसके शून्य जीवन की ईकाई थी। इस मर्त्यलोक में अमृत की चेतना जगा कर वह कहाँ चली गयी!

उसकी-जैसी आत्माएँ अब भी इस दुनिया में कहीं शेष होंगी अपना स्वभाव बदल देने से उन दिव्यात्माओं का भी हनन-पीड़न-शोषण करना पड़ेगा। विमल नहीं जीना चाहता ऐसा रक्तपिपासु जीवन।

: २७ :

'इन्क़लाब ज़िन्दाबाद ! इन्क़लाब ज़िन्दाबाद ! !'—वायुमण्डल में नयी राजनीति का यह नया नारा ऊँची आवाज से गूँज रहा है। यह भी क्या दुनिया का एक शोरगुल है या विमल के लिए युग का निमन्त्रण है, भविष्य का आशा-आश्वासन है?

युग-युग के शोषण से विमल तो कभी ही अकालवृद्ध हो चुका है। शैशव में ही वृद्धबालक बन चुका है। जिसके जीवन का आरम्भ ही नहीं हो सका उसके लिए तो सूर्योदय कभी हुआ ही नहीं, उसे अभी तक युग के प्रभात की प्रतीक्षा बनी हुई है।

'इन्क़लाब ज़िन्दाबाद ! इन्क़लाब ज़िन्दाबाद ! !' —यह नारा क्या प्रभात के आगमन की सूचना दे रहा है? क्या युग का पट परिवर्त्तन होने जा रहा है?

विमल नारों और झंडों के पीछे नहीं दौड़ता। कभी उसने चर्खे का तिरंगा झण्डा देखा था और यह विद्रोही तराना सुना था—'नहिं रखनी, नहिं रखनी जालिम सरकार ।' —सरकार बदल गयी, तिरंगे झण्डे में चर्खा धर्म्मचक्र बन गया। किन्तु युग-परिवर्त्तन क्या हुआ?......

अब उसकी आँखों के सामने यह लाल झण्डा लहरा रहा है। इस पर टँका हुआ हँसिया और हथौड़ा किसानों और मजदूरों की एकता का प्रतिनिधित्व कर रहा है।

अपनी श्रद्धा और सामाजिक रुचि के कारण विमल को धर्म्म-चक्र-शोभित तिरंगा झण्डा भी अच्छा लगता है और हँसिया-हथौड़ा का यह लाल झण्डा भी। इनमें उसे यन्त्रों के पहिले के युग का प्रतीक मिलता है। एक में सांस्कृतिक चिह्न है, दूसरे में प्रकृति के पुरुषार्थी पुत्रों का औद्योगिक चिह्न।

क्या ये झण्डे ग्रामीण युग का प्रतिनिधित्व करते हैं? विमल को इनके बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग में विरोधाभास जान पड़ता है, इसीलिए झण्डों और नारों का भरोसा नहीं करता। बाहर चर्खा-हँसिया-हथौड़ा है, भीतर वैज्ञानिक युग का यन्त्रोद्योग।

सिक्के की तरह विमल यन्त्रों का भी विरोध करता है। वह कहता है, सिक्के से मनुष्य बाजारू बन जाता है, यन्त्रों से निठल्ला। एक से सामाजिकता का ह्रास होता है, दूसरे से कर्म्मण्यता का। दोनों अपनी ही तरह मनुष्य को भी निर्जीव बना देते हैं।

जो श्रम नहीं करना चाहते वे सिक्कों से उपभोग करना चाहते हैं, यन्त्रों से समय और मिहनत बचाना चाहते हैं। विमल मज़ाक करता है—उपभोग की भी क्या आवश्यकता है, उपभोग के लिए देह को कष्ट देने, शरीर को हिलाने-डुलाने की क्या जरूरत है! मनुष्य के बदले यन्त्र ही खा-पी लिया करें, वे ही मलमूत्र का विसर्जन भी कर दिया करें।

लेकिन जब मनुष्य ही नहीं रह जायगा तब यन्त्र भी कैसे टिकेगा! उसे कौन बनायेगा!

अब तक सिक्के से मनुष्य का शोषण किया जाता था, अब यन्त्रों से प्रकृति का शोषण किया जा रहा है। अवैज्ञानिक युगों में भी मनुष्य शोषित था किन्तु उसको जीवन देने वाली प्रकृति सुरक्षित थी। अब सिक्के से जीना दुर्लभ होता जा रहा है, क्योंकि यान्त्रिक शोषण से प्रकृति की उत्पादन शक्ति क्षीण होती जा रही है। यन्त्रों से अभी जो अधिक उत्पादन दिखाई देता है वह प्रकृति का रक्तस्राव है, माता का स्तन-वात्सल्य नहीं।

विमल अनुभव करता है—मनुष्य श्रमजीवी नहीं, बुद्धिजीवी बनता जा रहा है। बुद्धिजीवी भी तभी तक जी सकता है जब तक शरीर का भरण-पोषण होता जा रहा है। प्रकृति की उत्पादन-शक्ति समाप्त हो जाने पर किसी दिन यन्त्रों की तरह ही उसके आविष्कारकों का मस्तिष्क भी जवाब दे देगा।

अकाल-सुकाल में, अभाव-भराव में, सुख-दुख में जब तक मनुष्य प्रकृति के वक्षस्थल से, माँ के स्तनों से अमृतपान कर रहा था तब तक वह सिक्के से, शासन से, सत्ता से शोषित-पीड़ित होकर भी जी रहा था। अब मनुष्य और प्रकृति के बीच में यन्त्रों ने दैत्य की तरह आकर दोनों को बिलगा दिया है। एक ओर मनुष्य बिलख रहा है, दूसरी ओर माँ अपना हाथ फैलाये हुए उसे बुला रही है, पुकार रही है। समय रहते मनुष्य यदि वैज्ञानिक दैत्य (यन्त्र) को हटा कर प्रकृति से नहीं जा मिलेगा तो स्वयं प्रकृति ही अपनी क्षुब्ध प्रतिक्रिया से इस युग के असुर का संहार कर देगी। उसी के साथ-साथ यन्त्रों पर आश्रित मनुष्य का भी विनाश हो जायगा।

सिक्के का अर्थशास्त्र और यन्त्रों का उद्योग-शास्त्र अब आगे और नहीं चल सकता। दूसरे महायुद्ध के दिनों में जीवन के इन कृत्रिम साधनों और वाहनों को टारपीडो लग गया है। मध्ययुग के साथ-साथ वैज्ञानिक युग भी डूब रहा है। जितना ही वह ऊपर उठना चाहता है उतना ही अपनी बुझती-भभकती शक्ति का चमत्कार दिखा कर नीचे ही धंसता-खसकता जा रहा है।

इस प्रलय-काल से मनुष्य को उबारने के लिए गान्धी ग्रामोद्योगों का मार्ग दिखा गया है। वह बार-बार कह गया है—प्रकृति की ओर लौटो ! गाँवों की ओर चलो !—

"वन तुलसी की गन्ध लिये हलकी पुरवैया आती है
मन्दिर की घंटा-ध्वनि युग-युग का सन्देश सुनाती है।"

क्या हम उसका सन्देश सुन सके हैं ! देश में प्रतिवर्ष वन-

महोत्सव मनाया जाता है। किन्तु कृत्रिम अर्थशास्त्र और उद्योग-शास्त्र के विशाक्त वातावरण में वन-महोत्सव का नैसर्गिक हृदय पनप नहीं पाता। एक ओर जब वन-महोत्सव मनाया जा रहा था तब जमींदारी उन्मूलन के भय से जमीदार लोग हरे-भरे पेड़ कटवा कर लहलहाते बगीचों को वीरान करते जा रहे थे। जनसाधारण भी ईंधन के लिए, मकानों के लिए वृक्षों को काटते जा रहे हैं। पैसे की दिक्कत ने उन्हें भी प्रकृति पर अत्याचार करना सिखा दिया है।

हमारी अपनी सरकार क्या गाँवों को प्रकृति का स्वर्ग बनाने का प्रयत्न कर रही है? वह तो वहाँ भी नगरों की कृत्रिमता का प्रसार करना चाहती है—सिनेमा, रेडियो, बिजली, पक्की सड़कें! वाह, क्या कहना है नगर की इन नियामतों का! यह सब बेवाई से फटे पैरों में रंगीन मोजे पहनाना है।

गाँववालों का क्या कोई अपना जीवित निर्माण नहीं है, मौलिक व्यक्तित्व नहीं है, वे क्या नगरों के दासानुदास हैं! सिनेमा का स्थान नाटकों को, रेडियो का स्थान ग्रामगीतों को ऋतुपर्वों और गृह-गोष्ठियों को, बिजली का स्थान सांस्कृतिक युग के तैलदीपों को दिया जा सकता है। जीवन के इन स्वाभाविक साधनों के लिए उनके नैसर्गिक जीवन को उन्हीं के उद्योग में स्वावलम्बी बनाने की आवश्यकता है।.........

किन्तु सिक्कों और यन्त्रों के आधार पर चलनेवाली सरकारें नगरों के मजदूरों और व्यापारियों की दृष्टि से ही देश को देखती हैं। कभी नगर गाँवों पर अवलम्बित थे, अब गाँव नगरों पर अवलम्बित होते जा रहे हैं। सच तो यह कि वे उजड़ते जा रहे हैं। जैसे वन के उजड़ जाने पर जङ्गली जानवर नगरों में भाग आते हैं वैसे ही गाँव के लोग भी वहाँ से नगरों में भागते आ रहे हैं—पैसे के लिए, मजदूरी के लिए।

विमल के पास देहात से जो पत्र आते हैं उनसे बिना अखबार के ही उसे वहाँ का समाचार मिलता रहता है। कोई लिखता है,

बोने के लिए बीज नहीं, कोई कहता है जोतने के लिए हलबैल नहीं है, कोई बिलखता है खेती के लिए काफी जमीन नहीं है, कोई कलपता है घर छवाने के लिए छप्पर नहीं है, कोई तरसता है ढोरों के लिए चारा नहीं है, खाने के लिए अन्न और पहनने के लिए कपड़ा नहीं है।

इन सब चीजों के लिए पैसा चाहिए। पैसा नगरों में है। नगर किसान को मजदूर बनने के लिए मजबूर करता है। यदि पैसे से ही जीया जा सकता है तो किसान को किसानी करने की क्या जरूरत है, उसके लिए फुरसत कहाँ है! लेकिन नगर में आकर भी वह क्या पा जाता है, यहाँ की बेकारी से जूझता रहता है।

'इन्क़लाब ज़िन्दाबाद इन्क़लाब ज़िन्दाबाद !'—यह तो नगरों के मजदूरों का नारा है। विमल कहता है—किसान के शोषित जीवन में परिवर्त्तन होने से ही सच्चा इन्क़लाब हो सकता है। जिस दिन गाँवों की पीठ पर से नगरों का भार (सिक्का और यन्त्र) उतर जायगा उसी दिन समझना चाहिये कि इन्क़लाब शुरू हो गया।

... .

विमल संस्कारों से धार्म्मिक और परिस्थितियों से आर्थिक प्राणी है। लोग आदर्श और यथार्थ की तरह, मन्दिर और बाजार की तरह धर्म्म और अर्थ को अलग-अलग देखते हैं, इसीलिए अध्यात्म-वाद और भौतिकवाद में विभेद जान पड़ता है। विमल के मन में विचारों का यह द्वन्द्व नहीं है। भौतिकता और आध्यात्मिकता को वह अविभक्त मानता है, शरीर और उसके स्वास्थ्य की तरह।

विडम्बना यह है कि इस युग में न भौतिकता ही है, न आध्यात्मिकता ही है। शरीर की तरह हो भौतिकता भी सजीव तत्त्व है, जीवित-स्पन्दित अस्तित्व है। प्रकृति को भौतिक शक्तियाँ ('छिति जल, पावक, गगन समीरा') जिस स्वाभाविकता से संयोजित होकर

जीवों की देह और आत्मा बन जाती हैं उसी स्वाभाविकता से सुसङ्गत होकर ही मनुष्य का पुरुषार्थ प्राणवन्त बन सकता है।

स्पष्ट शब्दों में विमल नैसर्गिक भौतिकवाद चाहता है, वैज्ञानिक भौतिकवाद नहीं। एक में मनुष्य का कर्म्मयोग है, दूसरे में केवल उद्योग।

प्रकृति की तरह, जीवों की देह की तरह मिट्टी ही मनुष्य का वह सजीव भौतिक तत्त्व है जो अपना वरदान देने के लिए मनुष्य की आत्मीयता चाहती है, पुरुषार्थों का मानवीकरण चाहती है, यन्त्रीकरण नहीं।

विमल जड़ भौतिकवादियों को इसी मिट्टी की स्पन्दनशीलता और संवेदनशीलता का याद दिलाता है, रूढ़ अध्यात्मवादियों को इसी मिट्टी में सीता की तरह चेतना का अंकुर प्रस्फुटित करने के लिए आमन्त्रण देता है। वह कहता है—मिट्टी को साधो! मिट्टी ही सत्य है, शिव है, सुन्दर है। मिट्टी ही शरीर है, मिट्टी ही आत्मा है, मिट्टी ही परमात्मा है। यही अर्थ, धर्म्म, काम, मोक्ष की सिद्धिदायिनी है। शिव ने इसी मिट्टी का भस्म रमाया था, कृष्ण ने इसी मिट्टी को खाकर यशोदा को त्रैलोक्य का रूप दिखलाया था।

—०—

: २८ :

पुराने ढंग के मेले विमल को अच्छे लगते हैं। उनमें उसे अपना बचपन घूमता दिखाई देता है।...

इस वर्ष प्रयाग के महाकुम्भ के अवसर पर वह भी वहाँ गया था—श्रद्धा से, उत्कण्ठा से, कौतूहल से।

महापर्व्व के स्नान के दिन बगल में कुर्ता, पाजामा और गमछा दबाये हुए घर से निकल पड़ा। इसी तरह वह बराबर सङ्गम-स्नान के लिए जाया करता था। सोचा—बस, वहाँ पहुँचने भर की देरी है, त्रिवेणी में गोता लगा कर, माता की गोद से फिर अपना बचपन और उसका आशीर्वाद लेकर मेले में घूमने चला जाऊँगा।...

घर से बाहर आने पर चारों ओर भीड़ देख कर भी उसे यह ख्याल नहीं रहा कि आज का दिन और दिनों की तरह नहीं है। आज तो पुण्य की लूट हो रही है। जो इस लोक की लूट में नहीं चल सका, वह इहलोक और परलोक की उस दुहरी लूट में कैसे चल सकता था!

बाँध के इधर ही बहुत पीछे जब वह सवारियों के अड्डे पर उतर पड़ा तब उसे वस्तुस्थिति का बोध हुआ। विमल साहस करके आगे बढ़ा। सोचा, जैसे बचपन में मेले की ठसाठस भीड़

में दबता-चिल्लाता अपना रास्ता निकाल लेता था वैसे ही आज भी राह पा जायगा। लेकिन दस कदम चलते ही उसका दम घुटने लगा। वह लौट पड़ा।

प्रतिदिन गङ्गास्नान करता आया है, क्या आज महापर्व्व के दिन ही उसका नियम भंग हो जायगा।! वह दारागंज की ओर चल पड़ा। लेकिन उधर का रास्ता भी स्वर्ग जाने के लिए वैतरणी को पार करने-जैसा ही कठिन था। किसी तरह विमल जब घाट पर पहुँचा तब वहाँ पैर रखने को भी जगह नहीं। अगल-बगल भीड़, नीचे फिसलाहट, आगे बढ़ना रजकण की तरह कुचल जाना था। विमल स्वर्ग के लिये, परलोक के पुण्य के लिए इतनी साँसत सहने को तैयार नहीं हुआ। क्या होगा वह स्वर्ग लेकर जहाँ ऐसे-ऐसे भेड़िया-धँसान लोग उससे पहिले पहुँच कर वहाँ भी अपना जमघट लगा देंगे।

लेकिन स्नान तो करना ही होगा। ब्राह्मण का चोला, सनातन संस्कारों का पुतला, म्लेच्छ कैसे रह सकता है!

विमल नगर की सीमा छोड़ कर देहात की ओर चल पड़ा। वह घाट पर घाट छोड़ता आगे बढ़ता चला गया। किन्तु भीड़ और गन्दगी के कारण स्नान और ध्यान के लिए कहीं तिलभर भी स्वच्छ जगह नहीं। वह मेला क्या था! सारे देश की जनता का, समाज का, सरकार का प्रतिबिम्ब था; सबकी गति-विधि का परिचायक था।

विमल अब तक जिस तरह संस्कृति में, कला में, राजनीति में नेति-नेति का नकारात्मक दृष्टिकोण लेकर अपनी आस्तिकता के पथ पर चलता रहा है उसी तरह वह उस सारे वातावरण को भी अस्वीकार कर अपने गन्तव्य की ओर बढ़ता ही चला गया।

नगर पीछे छूट गया, प्रकृति का ग्रामीण अञ्चल माँ के पलक-पाँवड़े की तरह सामने आ गया। अहाहा, कैसा हरा निर्म्मल

जल है ! यही तो माता का स्नेह-सजल धानी अञ्चल है। विमल ललक कर पुलक कर उसकी गोद में कूद पड़ा। तन-मन की क्लान्ति-श्रान्ति दूर हो गयी, अमृत के सिञ्चन से जीवन में नयी स्फूर्ति, नयी शक्ति आ गयी।

जाह्नवी की गोद में जब भी विमल अवगाहन करता है तब उसे एक और मातृमूर्त्ति याद आ जाती है। उस दिन भी वही उसकी स्मृति में साकार हो गयी। वही तो उसकी देवात्मा थी। अञ्जलि में जाह्नवी का जल लेकर दिशाओं की प्रदक्षिणा कर उसने अपनी श्रद्धाञ्जलि वैष्णवी के अदृश्य चरणों में चढ़ा दी—'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।'.........

स्नान-ध्यान के बाद विमल देहात के रास्ते ही अपने आवास की दिशा में चल पड़ा।

इधर-उधर प्रकृति के प्रशस्त प्राङ्गण का शोभा-समारोह निहारता जा रहा था—

दिग्दिगन्त तक वसन्त का सुरभित प्रफुल्लित वातावरण, वृक्षों का सघन वन-उपवन, गौरमुखी सुहागिनी सरसों का दूर तक फैला केसरिया लहँगा, बीच-बीच में तरल हृदय की तरह झलक मारते झलमलाते जलाशय, प्रकृति के पड़ाव की तरह खेतों के अड़ोस-पड़ोस में किसानों के गाँव, खपरैलों से छाये मिट्टी के मकान ! अहा, यही तो स्वर्ग है, यही तो ईश्वर का पुण्यधाम है—

"मनुज प्रेम से जहाँ रह सकें—मानव ईश्वर !
और कौन-सा स्वर्ग चाहिये तुझे धरा पर ?"

—०—

: २६ :

बचपन की स्मृतियाँ विमल को देहात खींच ले जाती हैं। वहाँ अब भी वही अमराई है, कुआँ है, खेत है, उसी की तरह दुबली-पतली सारता का क्षीण प्रवाह है। विमल इन्हीं में अपने अतीत को खोजता है। खोजते खोजते स्वयं भी खो जाता है।...

महाकुम्भ के बाद विमल फिर देहात आया है। वसन्त ऋतु, चैत की चाँदनी रात! हलकी गुलाबी ठंढक! ऐसे ही शान्त सुखद वातावरण में विमल एक गाँव से दूसरे गाँव को लौट रहा था। चारों ओर छिटकी चटकीली चाँदनी में अग-जग जगमगा रहा था। खेत-पेड़-मकान और ऊँचा-नीचा मैदान, सब कुछ अमल-धवल-समरस हो गया था। चाँदनी में वह सृष्टिलोक किसी परमहंस के आध्यात्मिक समाज की तरह अथवा किसी स्वर्ग की राजकुमारी के सरल प्रेमल साम्राज्य की तरह दिव्य और भव्य जान पड़ता था।

विमल की चिरशोषित इन्द्रियों में अभी भावना का स्पन्दन और संवेदन शेष है, इसीलिए स्मृतियाँ उसे सुहावनी लगती हैं, चाँदनी उसे सुहासिनी-सी दीख पड़ती है।

स्वप्नों में सोये उस नीरव आनन्द-लोक में विमल आत्म-विह्वल होकर चला जा रहा था। वह चाहता था, चाँदनी के

इस उज्ज्वल सुस्निग्ध साम्राज्य में चलता ही चलता रहे, उसके पथ का कहीं अन्त नहीं हो। विमल कहाँ तक कब तक चलता रहेगा ! चाँदनी तो आकाश से लेकर ससागरा-वसुन्धरा तक छायी हुई है। उसका साम्राज्य तो अमृत राज्य है, अनन्त और अपार है।...

विमल की इस सुख-शान्ति का अनुभव क्या क्रान्ति का यह प्रज्ज्वलित युग भी करता होगा ! अणुबम-परमाणुबम और न जाने कौन-कौनसे विध्वंसक बम सृष्टि का अस्तित्व मिटा देने के लिए तुले हुए हैं। जापान के बीकनी द्वीप में अणुबम का परीक्षण किया गया, कहते हैं, समुद्र की लहरों में भी आग लग गयी ! तो क्या यह आग्नेय युग चाँदनी का सुख-शान्ति-मय साम्राज्य भी अपनी ज्वाला से समाप्त कर देगा !...

विचारों में डूबे-डूबे विमल घर के द्वार पर आ गया। अपने ही में आत्ममग्न वह भूल गया कि चाँदनी तो अभी विशाल विश्व में फैली हुई है, उसके पथ का अभी अन्त नहीं हुआ है। शायद उसे अनुभव हुआ होगा कि चाँदनी तो उसी की काव्यचेतना है, वह भी जागती है, सोती है। इसीलिए उसी की तरह अग-जग से सिमट कर पलकों में आँखों में युग का उज्ज्वल भविष्य बन कर सम्पुटित हो गयी।

—❋—

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
पो० बक्स नं० ७०, ज्ञानवापी
वाराणसी–१

मूल्य : २ रुपया